अन्नमभट्ट-कृत

तर्कसंग्रहः

व्याख्याकार

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र
भूतपूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय



अक्षयवट प्रकाशन
इलाहाबाद

- तर्कसंग्रहः

- व्याख्याकार :
  डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

- प्रकाशन वर्ष : फरवरी १६८८

- मूल्य : विद्यार्थी सस्करण : आठ रुपये
  पुस्तकालय संस्करण : पन्द्रह रुपये

- प्रकाशक :
  अक्षयवट प्रकाशन
  २६, बलरामपुर हाउस
  इलाहाबाद–२

- मुद्रक :
  पर्वतीय मुद्रणालय
  १८, राय रामचरन दास रोड
  इलाहाबाद–२

भूमिका

भारतीय दर्शन एवं उसके भेद

'दर्शन' शब्द सस्कृत की दृश् (दर्शने अथवा ज्ञानसामान्ये) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगने से बनता है। ल्युट् प्रत्यय 'भाव' तथा 'करण' दोनो ही अर्थों मे लगता है। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ साक्षात्कार या ज्ञान एव उसका साधन, दोनो ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समग्रजीवन या सारी सृष्टि के स्वरूप या तत्त्व पर विचार और फलतः उसका ज्ञान या साक्षात्कार ही दर्शन है। इस प्रकार दर्शन समग्र जीवन के सभी पक्षो से सम्बद्ध है। जीवन-सम्बन्धी किसी भी ज्ञान-विज्ञान को इससे पृथक् नही रखा जा सकता। इसी-लिये आधुनिक युग मे भी इतिहास, समाज-शास्त्र, राजनीति तथा विज्ञान आदि से दर्शन का सम्बन्ध दिखलाया जाता है। मनोविज्ञान तथा धर्मशास्त्र से तो 'दर्शन' का घनिष्ठ सम्बन्ध है ही। इस प्रकार के तत्त्वविवेचन के लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'आन्वीक्षिकी' चतुर्विध विद्याओ मे परिगणित है। वे इस प्रकार हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। इनमे आन्वीक्षिकी का विवरण देते हुये साख्य, योग और लोकायत को परिगणित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि कौटिल्य के समय तक 'दर्शन' शब्द के पर्याय रूप मे 'आन्वीक्षिकी' शब्द प्रचलित हो चुका रहा होगा। मनुस्मृति ७।४३ मे आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या कहा गया है। कामन्दकीयनीति० ७।७ मे इसे आत्म-विज्ञान कहा गया है। इससे जान पडता है कि मनुस्मृति तथा कामन्दकीयनीति० के समय तक दर्शन के लिये आत्मविद्या, आत्मविज्ञान आदि शब्दो का भी प्रयोग होने लगा था।[1] यह कैसे तथा क्यो हुआ?

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा मे जिसे 'दर्शन' कहते है वह जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभव किया गया सत्य है, चाहे वह साध्य-विषयक हो और

---

१. द्रष्टव्य—तर्कभाषा, डॉ० श्रीनिवास शास्त्री की भूमिका, पृ० १

चाहे साधन-विषयक । विभिन्न समयो मे विभिन्न परिस्थितियो के बीच विभिन्न मनीषियो द्वारा किये गये सत्य के अनुसन्धान और अनुभव यद्यपि सर्वथा अनुरूप या एक से नही है और वैयक्तिक एवं अन्य प्रकार की विषमताओ के कारण एक से हो भी नही सकते थे, तथापि हैं वे सब सत्य की ही खोज के विभिन्न प्रयत्न और अनुभव । इसीलिये उनकी 'दर्शन' सज्ञा तथा उनके द्रष्टाओ की 'ऋषि' सज्ञा सर्वथा सार्थक है । 'दर्शन' को इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हमारा सारा का सारा आर्षसाहित्य-वैदिक सहिताये, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ही 'दर्शन' है । और यह ठीक ही है क्योकि सारा वैदिक वाङ्मय प्राचीन तपस्वी मनीषियो एव चिन्तको के द्वारा दृष्ट या साक्षात्कृत तत्त्वो या धर्मों की अभिव्यक्ति-मात्र है, उनका दर्शन है । इसीलिये तो वे द्रष्टा 'ऋषि' हैं—'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः' (यास्ककृत निरुक्तः) । ऋषि-दृष्ट सारा वैदिक वाङ्मय इसी से आर्ष साहित्य कहा जाता है । यह अन्य बात है कि वेदो का सहिता-साहित्य विभिन्न देवताओ—देवतातत्त्व—का दर्शन है, उनकी अभिव्यक्ति एव स्तुति रूप आराधना है । उनका ब्राह्मणसाहित्य उन्ही देवताओ की आराधना के एक विशिष्ट प्रकार 'यज्ञ' अर्थात् वैदिक कर्म-विशेष का दर्शन है, आरण्यक-साहित्य आराधना के दूसरे विशिष्ट प्रकार 'उपासना'—वैदिक भक्ति—का दर्शन है, तथा उपनिषद्-साहित्य मुख्यतः विभिन्न देवो मे अनुस्यूत एक ही मूलतत्त्व 'परमपुरुष' 'पुरुषोत्तम' या 'परब्रह्म' एव उसकी आराधना के तीसरे विशिष्ट प्रकार 'ज्ञान' का दर्शन है । परवर्ती काल मे जब 'दर्शन' शब्द से सर्वप्रमुख प्रमेय आत्मा या ब्रह्म का दर्शन ही ग्रहण किया जाने लगा होगा, तब धीरे-धीरे अध्यात्मज्ञान-प्रधान उपनिषदे तथा उनके आधार पर रचित न्याय, साख्य, योग, मीमासा इत्यादि शास्त्रो के लिये ही विशेषरूप से उसका प्रयोग होने लगा होगा, ऐसी सम्भावना है ।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहदा० ४।५) से इस सम्भावना की पुष्टि होती है । इस ब्राह्मण मे महामुनि याज्ञवल्क्य तथा उनकी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी के बीच अमृतत्त्व-प्राप्ति के विषय मे संवाद हुआ है । मैत्रेयी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य की एक और पत्नी कात्यायनी थी जो 'स्त्री-प्रज्ञा'–सामान्य स्त्रियो की बुद्धि वाली—थी । गृहस्थाश्रम को छोडकर सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते हुये याज्ञवल्क्य ने एक समय मे अपनी ब्रह्मवादिनी प्रिय पत्नी

---

१. द्रष्टव्य—लेखक-कृत साख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० २

मैत्रेयी से कहा कि हे मैत्रेयि ! मै कात्यायनी के साथ तुम्हारा निपटारा कर देना चाहता हूँ ताकि मेरे न रहने पर तुम दोनो मे कलह न हो । मैत्रेयी ने उत्तर मे कहा कि हे भगवन् ! यदि यह सारी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण होकर मुझे प्राप्त हो जाय तो मै अमर हो सकूँगी या नही ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'नही । समस्त उपकरणो से युक्त जनो का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी होगा । वित्त से अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ ही है ।' तब मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन् ! जिस वित्त से मै अमर न हो सकूँगी, उसे लेकर क्या करूँगी । जिसे अमृतत्व का साधन जानते हो उसी का उपदेश कृपया मुझे दे । याज्ञवल्क्य ने कहा—'हे मैत्रेयि ! ध्यान दो, मै उपदेश दे रहा हूँ । पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, लोक, देव, वेद, प्राणी—सभी कुछ आत्मा के ही लिये प्रिय होता है, पति-पुत्रादि के लिये नही । अतः सर्वप्रिय आत्मा का 'दर्शन'—अनुभव या साक्षात्कार– करना चाहिये । उसी का श्रुति-वाक्यो से 'श्रवण' तथा श्रुत्यनुकूल युक्तियो या तर्कों की सहायता से मनन करके, अहर्निश निदिध्यासन करना चाहिये । श्रवण, मनन तथा सतत निदिध्यासन से उसका दर्शन हो जाने पर, उसका विज्ञान [विशिष्ट ज्ञान अर्थात् अनुभव] हो जाने पर, अन्य सभी कुछ दृष्ट या विज्ञात हो जाता है, सारे रहस्य का उद्घाटन हो जाता है ।[1]

इस सवाद से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदो तक आते-आते आत्मा ही सर्वप्रधान या एकमात्र प्रमेय तथा उसका ज्ञान या दर्शन ही मुख्यतम दर्शन हो गया था । जीवन के सर्वप्रमुख पुरुषार्थ अमृतत्व-प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का एकमात्र साधन होने से यह आत्मदर्शन मानव-जीवन का एकमात्र वास्तविक लक्ष्य बन गया था, तथा लक्ष्यभूत इस दर्शन का मुख्य साधन होने से उपनिषद् इत्यादि अध्यात्म-श्रुतियो का श्रवण तथा मनन, एव तदनन्तर आत्मनिदिध्यासन जीवन की वास्तविक चर्या । अन्य साधनो की सार्थकता आत्मदर्शन के इन्ही साक्षात् साधनो की प्राप्ति मे सहायक होने मे थी । इसी से ये तीनो साधन वेदान्त मे आत्मज्ञान के अन्तरग के रूप मे प्रसिद्ध है एव इनके भी साधन विवेक, वैराग्य, शमदमादि एव मुमुक्षुत्व बहिरंग । इन विवेकादि के भी बहिरग सत्सग, तीर्थाटन, दान, ब्रह्मचर्यादि है । इन सभी साधनो की सार्थकता आत्मदर्शन के 'श्रवणादि' साक्षात् साधनो की प्राप्ति मे सहायक

---

१. द्रष्टव्य—बृहदारण्यक० ४।५

होने मे ही मानी जाती थी। इस आत्मदर्शन के स्वरूप, साधन इत्यादि के निरूपण द्वारा इसकी प्राप्ति मे मुख्य साधन होने से उपनिषदो तथा उन पर आधृत अन्य अध्यात्मविद्याविषयक ग्रन्थो को 'दर्शन' संज्ञा प्राप्त हुई। परवर्ती काल मे न्याय, वेदान्त, साख्य, इत्यादि शास्त्र दूरत: या समीपत: इन उपनिषदो से सम्बद्ध तथा इन पर आधृत होने के कारण ही 'दर्शनशास्त्र' कहे गये।

इस दर्शन के मूलत: दो भेद है—आस्तिक तथा नास्तिक। 'आस्तिक' शब्द का प्रयोग अनित्यदेहादि से भिन्न नित्य आत्मा की सत्ता मे विश्वास करने वाले के अतिरिक्त परलोक की सत्ता, वेद की प्रामाणिकता, ईश्वर की सत्ता तथा कर्मफल की प्राप्ति मे विश्वास रखने वाले के लिये भी होता देखा जाता है। वस्तुत. द्वितीय अर्थ प्रथम से भिन्न नही है क्योकि परलोक की सत्ता मे विश्वास करने का अर्थ है परलोकी या परलोक मे जाने वाले की सत्ता मे विश्वास; और इस लोक से परलोक मे जाने वाला तो शरीरादि अनित्य पदार्थ से भिन्न ही कोई हो सकता है, शरीरादि नही हो सकता, क्योकि वह तो यही नष्ट होते देखा जाता है। उस नित्यपदार्थ का ही नाम आत्मा है। वेदादि श्रुतियो मे इस प्रकार के नित्य आत्मा की सत्ता का अनेकश: प्रतिपादन होने से वैदिकमार्गानुयायी आस्तिक भी तो आत्मवादी या परलोकवादी से भिन्न नही हुआ। हाँ, चार्वाक आदि जरूर वेदोपदिष्ट नित्य आत्मतत्व की खिल्ली उडाने के कारण ही मनु-स्मृति आदि मे, 'नास्तिको वेदनिन्दक:' आदि शब्दो के द्वारा 'नास्तिक' कहे गये है। यो, वेदोपदिष्ट यज्ञादि की निन्दा तो बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदाय वाले भी करते हैं परन्तु ये सभी आत्मा की सत्ता मानते है। तब इन्हे आस्तिक कहा जाय या नास्तिक ? बौद्धमार्गावलम्बी नित्य आत्मा को तो नही मानते प्रतीत होते तथापि स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलो को तो वे भी मानते ही हैं। अच्छा कर्म करो, अच्छी योनि मिलेगी, अच्छा फल मिलेगा, यह बात तो भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशो मे अनेकश: कही है। तब तो वे भी परलोक विश्वासी होने के कारण 'नास्तिक' कैसे कहे जा सकते है ? जैनमतावलम्बी तो शुभाशुभ कर्म करने वाले आत्मा का ही फलप्राप्त्यर्थ परलोक मानने के कारण पूर्ण परलोकविश्वासी है। वे तो बौद्धो की तरह आत्मा को अनित्य भी नही मानते। तब फिर वे भी नास्तिक कैसे कहे जा सकते है। आत्मस्वरूप मे भेद होने के कारण इन्हे नास्तिक कहना समुचित नही प्रतीत होता। इसी कारण से कुछ विद्वान् विचारक केवल चार्वाक या लोकायत मत को ही

'नास्तिक' तथा शेष सभी को 'आस्तिक' मानना अधिक उचित समझते हैं। किन्तु अनित्य आत्मा मानने से बौद्धो को भगवान् शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य मे अनेकशः वैनाशिक कहा है। नैयायिक आदि अन्यो ने भी उन्हे अनात्मवादी आदि नाम दिये है। अतः वेदाद्युपदिष्ट नित्य आत्मा एवं यज्ञादि मे विश्वास न करने एव उनका खण्डन करने के कारण बौद्धो को प्रायेण नास्तिक सम्प्रदायो मे ही परिगणित किया जाता है। इसी प्रकार जैनो को भी नास्तिक विचारधारा वाला ही माना जाता है क्योकि उनकी कल्पना का आत्मा मध्यम-परिमाणी होने से नित्य हो नही सकता। 'न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' इत्यादि उक्तियो से यह बात परिपुष्ट होती है। ऐसी स्थिति मे चार्वाक या लोकायत, जैन तथा बौद्ध—ये तीन नास्तिक दर्शन तथा न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा तथा उत्तरमीमासा—ये छः आस्तिक दर्शन माने जाते है। इस प्रसंग मे एक बात और भी ध्यान देने की है। आत्मा के जीवात्मा तथा परमात्मा या ईश्वर इन दो भेदो मे से ईश्वर वैदिक सम्प्रदायो मे समस्त विश्व का कर्ता, धर्ता और हर्ता माना जाता है, वह सबका नियामक होने से अन्तर्यामी कहा जाता है। इस प्रकार के ईश्वर मे न बौद्धो का विश्वास है और न जैनो का ही, जबकि सारी वैदिक परम्परा ईश्वरःवादिनी है। तब फिर जैन और बौद्ध आध्यात्मिक विचार की दृष्टि से चार्वाको से बहुत ऊँचे होने पर भी अनीश्वरवादी (वेद-शास्त्रो की कल्पना का ईश्वर न मानने वाले) होने के कारण 'आस्तिक दर्शन' कैसे स्वीकार किये जा सकते है? यहाँ इतनी बात अवश्य ज्ञातव्य है कि हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के प्रसिद्ध टीकाकार गुणरत्न ने उसमे प्रयुक्त 'आस्तिकवादानाम्' का 'जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनाम्' अर्थ किया है।[1] वाल्मीकि-कृत रामायण २।१०६ मे वर्णित नास्तिक मत से भी इसी बात की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति मे जैन एव बौद्ध मतो को नास्तिक कैसे कहा जा सकता है, जबकि वे पुण्य और पाप भी मानते है, उनके भोगस्थान परलोको को भी, तथा शुभाशुभ कर्मों के अनुसार तत्तत् लोको को जाने वाले कर्मभोक्ता जीवात्मा को भी। इस प्रकार जैन तथा बौद्ध दार्शनिक अपने को नास्तिक मानते नही प्रतीत होते। ऐसा होने पर भी चार्वाको की तरह वे भी अपने को वेदवादी दार्शनिक नही मानते। वेदवादी दर्शनो मे तो न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमांसा एव उत्तरमीमासा या वेदान्त ही

---

१. द्रष्टव्य—षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ० २९६

आते हैं। वेदान्तों मे भी शकराचार्य के प्रज्ञानाद्वैत के अतिरिक्त रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य का विशुद्धाद्वैत एवं मध्वाचार्य का द्वैत—ये चार वैष्णव वेदान्त आते है।

तर्क-प्रधान न्याय दर्शन

इन वेदवादी दार्शनिको के भी दो रूप हैं—तर्क-प्रधान एव शब्द-प्रधान। जो सम्प्रदाय वेद की प्रामाणिकता का निर्धारण भी तर्क के आधार पर करते हैं, उन्हे तर्क-प्रधान, और जो सम्प्रदाय वेद को स्वतः प्रमाण मानते है तथा तर्क को उसका सहायक एव अंग मानते है, उन्हे शब्द-प्रधान जाना जाता है। इस प्रकार न्याय तथा वैशेषिक को तर्क-प्रधान कहना समुचित है। सांख्य भी तर्क या अनुमान को ही प्राधान्य देता है। उसके द्वारा प्रतिपादित या उपदिष्ट दो मूल तत्त्व प्रकृति एव पुरुष है। इनकी सत्ता साख्य दर्शन मे प्रधानतया युक्तियो या उपपत्तियो के आधार पर ही सिद्ध की गई है।

न्यायविद्या तर्क, युक्ति या हेतु को प्राधान्य देने के कारण हेतु-विद्या, प्रमाण-विद्या, आन्वीक्षिकी आदि नामो से सुविख्यात है। वह तो साख्य के 'पुरुष' की ही भाँति आत्मा को प्राधान्यतः अनुमेय-अनुमान गम्य ही मानता है। उदयनाचार्य का आत्मतत्त्वविवेक हेतु या तर्क द्वारा आत्मा की सिद्धि दर्शित करता है। उनकी न्यायकुसुमांजलि तो ईश्वर की सिद्धि मे अनुमान के सर्वतोऽधिक उपयोगी होने की बात उजागर करती है। इसी से वह उदयनाचार्य की उत्कृष्टतम कृति मानी जाती है। उनके पूर्ववर्ती न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन तथा न्यायवार्तिककार उद्योतकर, दोनो ने ही आत्मा की सिद्धि मे सूत्रोक्त हेतुओ को पर्याप्त स्थान दिया है एव उनकी सुस्पष्ट व्याख्या-विवेचना प्रस्तुत की है। इसी प्रकार अपवर्ग (मोक्ष) के स्वरूप के विवेचन मे भी भाष्यकार वात्स्यायन तथा वार्तिककार उद्योतकर ने न्यायसूत्र १।२।२२ (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः) के व्याख्यान मे प्राधान्यत तर्कों एवं हेतुओ का ही सविशेष आश्रय लिया है।

इतने विवेचन से यह बात अभ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाती हैं कि न्यायदर्शन मुख्यतः हेतु-विद्या, या प्रमाण-विद्या है, आन्वीक्षिकी है। स्वयं भाष्यकार न्याय० १।१।१ मे 'आन्वीक्षिकी' शब्द की अपनी व्याख्या से भी यह बात सुस्पष्ट कर देते हैं। न्यायसूत्र के अवतरणिका-भाष्य मे वे स्पष्ट कहते है—

"प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। यत् पुनरनुमान प्रत्यक्षागमविरुद्ध न्यायाभासः स इति।"

उनकी इन पंक्तियो का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण द्वारा ईक्षित पदार्थ या तत्त्व का अनन्तर पुनरीक्षण ही अन्वीक्षण या अन्वीक्षा (अनु अर्थात् अनन्तर या बाद मे, ईक्षा अर्थात् ज्ञान) है। तत्त्व-ज्ञान की इस प्रणाली से प्रवृत्त होने वाला शास्त्र 'आन्वीक्षिकी' कहा जाता है। यही न्यायविद्या या न्यायशास्त्र के नाम से विज्ञात है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो अनुमान प्रत्यक्ष अथवा आगम अथवा दोनो के विरुद्ध हो, वह न्याय कहे जाने का अधिकारी न होने से 'न्यायाभास' है। न्यायाभाष्य के इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष और आगम का आवश्यक पूरक या उपोद्वलक है, उसमे किसी प्रकार का ननु-नच अथवा विकल्प नही है।

भाष्यकार का यह भी कथन है कि जैसे चार प्रधान विद्याओ मे त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति के अनेक वैशिष्ट्य उनके पृथक्-पृथक् या स्वतन्त्र प्रस्थान होने की बात सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार अन्वीक्षिकी या न्याय के संशय, प्रयोजन आदि अपने १४ पदार्थ भी उसका अन्य तीनो से पृथक्-प्रस्थानत्व सिद्ध करते है। यदि न्यायसूत्रकार गौतम ने इनका पृथक् पदार्थों के रूप मे कथन न किया होता तो यह न्यायविद्या उपनिषदो की भाँति अध्यात्मविद्या-मात्र होकर रह जाती, हेतुविद्या या प्रमाणविद्या न हो पाती।[1]

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणो की उपयोगिता एव सार्थकता प्रमेयो का ज्ञान कराने मे है। इन प्रमेयो मे 'आत्मा' ही सर्वप्रधान प्रमेय है क्योकि बिना ऐसा हुये न्याय के अध्यात्मविद्या-मात्र होने का प्रश्न ही कहाँ, जिससे बचने के लिये भाष्यकार उसके अपने (सशयादि) चौदह पदार्थों के पृथक् कथन की बात की कल्पना करते हैं। केवल आत्मा का प्रधानतया प्रतिपादन उपनिषद् आदि वेदान्तों का विषय है, किन्तु उसके साथ-साथ 'महान्याय' अनुमान के पचावयवो तथा सशय, वाद, जल्प, छल आदि न्यायागो का विशेष रूप से कथन तथा प्रतिपादन न्यायविद्या का ही विषय है। इसी से यह केवल अध्यात्मपरक विद्या न होकर 'न्यायविद्या' भी है, अन्वीक्षा

---

१. द्रष्टव्य—'इमास्तु चतस्रो विद्या. पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते, यासामियमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथकप्रस्थानाः सशयादयः पदार्थाः। तेषा पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमिय स्यात्, यथोपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते'॥—न्यायभाष्य १।१।१

या न्याय के अगोपागो की प्रतिपादक विद्या भी है। फिर भी प्रमेयो के कथन[1] के अवसर पर न्यायदर्शन सर्वप्रथम आत्मा का ही कथन करता है। इससे इसका अध्यात्मविद्या का स्वरूप भी सर्वथा सुरक्षित रहता है।

पीछे 'न्याय' का आन्वीक्षिकीपरक अर्थ भाष्यकार के अनुसार प्रदर्शित हो चुका है। किन्तु 'न्याय' का शाब्दिक अर्थ क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही मन मे उठती है। न्यायविद्या या तर्कशास्त्र के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन नही है, यद्यपि 'न्याय' शब्द है बहुत प्राचीन। पाणिनि ने 'अध्यायन्यायोद्यावसहाराश्च' (अष्टा० ३।३।१२२) सूत्र मे सज्ञावाची 'न्याय' शब्द का निपातन किया है किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नही है कि न्याय' शब्द किसकी सज्ञा (नाम) था। भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र की वृत्ति[2] मे 'नियन्त्यनेनेति न्यायः' कहा है परन्तु इससे भी सज्ञा-सम्बन्धी अस्पष्टता दूर नही होती। एक दूसरे स्थल[3] मे पाणिनि ने एक विशेष अर्थ मे नि पूर्वक इण् धातु से 'न्याय' शब्द की निष्पत्ति दिखलाई है। तदनुसार अभ्रेष अर्थ मे 'न्याय' शब्द निष्पन्न होता है। सूत्रार्थ यह है कि परि पूर्वक नी धातु तथा नि पूर्वक√इण् धातु से से क्रमशः द्यूत तथा अभ्रेष विषय मे घञ् प्रत्यय लगता है,[4] और क्रमशः 'परिणाय' तथा 'न्याय' शब्द निष्पन्न होते हैं। भट्टोजि ने 'न्याय' का अर्थ 'उचित' किया है। काशिका के अनुसार 'पदार्थानामनपचारो यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः' है। 'पदार्थों का अनतिक्रमण अर्थात् जैसा प्राप्त हो, वैसा ही करना' यह 'अभ्रेष का अर्थ हुआ। इस प्रकार काशिकाकार के अनुसार भी 'न्याय' शब्द औचित्यवाची ही है। इसी का अनुसरण भट्टोजि ने अपनी सिद्धान्त-कौमुदी मे किया है, ऐसा लगता है। डॉ० श्रीनिवास शास्त्री का अभिमत है कि "सम्भवतः यही अर्थ आगे इस रूप मे विकसित हुआ जिससे 'न्याय' शब्द का 'न्यायविद्या' के

---

१. द्रष्टव्य—परिपूर्वान्नयतेर्निपूर्वादिणश्च घञ् स्यात् क्रमेण द्यूतेऽभ्रेषे च विषये। एषोऽत्र न्यायः, उचितमित्यर्थः।—सि० कौ०

२. द्रष्टव्य—तर्कभाषा की भूमिका का पृ० १४।

३. द्रष्टव्य—न्यायसूत्र १।१।१ की विश्वनाथकृत वृत्ति।

४. द्रष्टव्य—आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।।—न्यायसूत्र १।१।९

अर्थ मे प्रयोग होने लगा।"[1] डॉ० शास्त्री पूर्वमीमासा के लिये 'न्याय' शब्द के प्रयोग का विकास बताते हुये उसी के आगे फिर लिखते हैं—'दूसरी ओर लोक मे 'न्याय' शब्द का प्रयोग पद्धति या नियम के अर्थ मे दृष्टिगोचर होता है, जैसे काकतालीयन्याय, सूचीकटाहन्याय इत्यादि। सम्भवतः इसी आधार पर उन सामान्य नियमो को भी 'न्याय' कहा जाने लगा जिनका ब्राह्मण-वाक्यो के अर्थ-निर्णय के लिये पूर्वमीमांसा मे अनुसन्धान किया गया था। इसीलिये प्राचीन काल मे मीमासा के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। बुह्लर ने इसी बात की ओर ध्यान दिलाया है कि आपस्तम्ब-सूत्र (११।४।८।१३ और ११।६।१४।१३) मे 'न्याय' शब्द का प्रयोग पूर्वमीमासा के अर्थ मे ही हुआ है (द्रष्टव्य-डॉ० धर्मेन्द्रनाथशास्त्री-कृत भारतीय दर्शन, पृ० ६६)। उत्तरकाल मे भी पूर्वमीमांसा के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग होता ही रहा। पूर्वमीमासा के अनेक ग्रन्थो का नाम 'न्याय' शब्द से विशिष्ट है, जैसे न्याय-कणिका, न्यायरत्नमाला, न्यायमाला-विस्तर, मीमांसा-न्यायप्रकाश इत्यादि।

न्यायविद्या के लिये भी प्राचीन काल से 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था, यह न्यायसूत्रवृत्तिकार विश्वनाथ ने श्रुति, स्मृति तथा पुराण के आधार पर बताया है।[2] 'न्यायसूत्र' नाम इस बात का द्योतक है कि न्यायसूत्र के प्रणेता के समय मे 'न्याय' शब्द न्यायविद्या के लिये प्रसिद्ध हो गया था। पहले कहा जा चुका है कि 'न्याय' का पारिभाषिक अर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने किया है जिसके अनुसार उसका अर्थ है 'प्रमाणो के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना'; और इसी अर्थ मे 'अन्वीक्षा' का प्रयोग भाष्यकार को मान्य है।

यद्यपि न्यायसूत्र प्रणेता गौतम साम्प्रतम् उपलब्ध न्यायसूत्र के पूर्व न्याय या तर्क की किसी रूप मे विद्यमानता को नकारा नही जा सकता, तथापि इस समय मे तो न्याय का यही मौलिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता का नाम सर्वथा सुनिश्चित नही है। डॉ० विद्याभूषण के अनुसार न्यायसूत्र का एक अश गौतम ने लिखा और दूसरा अश अक्षपाद ने। डॉ० दासगुप्त ने भी वर्तमान न्यायसूत्र के दो अंश स्वीकार किये है—एक अध्यात्मविद्या, और दूसरा तर्कविद्या।[3] आचार्य विश्वे-

---

१. अधीयतेऽस्मिन् अध्यायः। नियन्ति, उद्यवन्ति सहरन्त्यनेनेति विग्रहः।

२. परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः।—अष्टा० ३।३।३६

३. द्रष्टव्य—हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी, पृ० २७८

श्वर के अनुसार वात्स्यायन-भाष्य से यह स्पष्ट है कि आन्वीक्षिकी या न्याय-विद्या के दो अग है—अध्यात्मविद्या तथा प्रमाणो द्वारा अर्थ की परीक्षा। एक के रचयिता गौतम है तथा दूसरे के अक्षपाद। हिन्दी तर्कभाषा की भूमिका के पृ० २६ पर उनका एतद्विषयक लेख इस प्रकार है—'प्राचीन न्याय के विकास मे··· दो युग स्पष्ट प्रतीत होते है—अध्यात्मप्रधान युग के निर्माता गौतम और प्रमाणप्रधान युग के प्रवर्तक अक्षपाद है।' किन्तु इन आधुनिक विद्वानो की इस प्रकार की मान्यता पर्याप्त प्रमाणो के अभाव मे मान्य या स्वीकार्य नही हो सकती। पूर्व पृष्ठो मे न्यायदर्शन के मुख्यतः प्रमाणविद्या या हेतु विद्या होते हुये भी अध्यात्मविद्या होने का रहस्य स्पष्ट किया जा चुका है।

इस न्यायसूत्र के प्रणेता अक्षपाद का समय डॉ० विद्याभूषण के अनुसार १५० ई० है। प्रो० जैकोबी के अनुसार २०२ से ५०० ई० के बीच। डॉ० बोडास इसे ईसवीय-पूर्व पंचम शतक के अन्त या ई० पू० चतुर्थ के प्रारम्भ की रचना मानते है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री अक्षपाद को तो बुद्धपूर्व-कालिक मानते है किन्तु न्यायसूत्र, जो उनके अनुसार गौतम की कृति है, की रचना महायान-बौद्ध सम्प्रदाय के बाद प्रायः २०० ई० की मानते है। इन सारे मतो मे डॉ० बोडास का मत ही सत्य के अधिक समीप है। डॉ० गगानाथ झा-कृत न्यायभाष्य के आग्लभाषानुवाद की प्रस्तावना मे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने अनेकानेक युक्तियो से यही निष्कर्ष निकाला है कि ई० पू० षष्ठ शतक मे ही न्यायसूत्र की रचना हुई थी। यही मत, प्रारम्भ मे, विद्याभूषण जी का भी था। म० म० डॉ० उमेश मिश्र न्यायसूत्र की रचना ई० पू० पचम शतक मानते है।[1] डॉ० कविराज, डॉ० मिश्र तथा श्री बोडास के मत प्रायः समान है। इनके सभी के अनुसार न्यायसूत्र की रचना ई० पू० पचम या षष्ठ शतक मे हुई थी। किन्तु इसके विपरीत बौद्ध दर्शन के सुविख्यात मनीषी प्रो० शेरवास्की इसे ई० पू० पचम का न मानकर ई० पचम शताब्दी का मानते है, ठीक १००० वर्ष बाद का। इसका कारण वे इसमे हुए विज्ञानवाद के उल्लेख को मानते है। इस सम्बन्ध मे इतना ही वक्तव्य है कि न्यायसूत्र का स्वरूप चिरकाल से अव्यवस्थित रहा है, अत इसमे किसी सम्प्रदाय के उल्लेख अथवा खण्डन की मौलिकता के निश्चय के अभाव

---

१. द्रष्टव्य—हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी, द्वितीय वाल्यूम, पृ० २४-२७

मे, उस उल्लेखादि के आधार पर इसके रचनाकाल का निर्णय बहुत उपपन्न या समीचीन नही कहा जा सकता। प्रो० शेरवास्की के मत के विरुद्ध प्रो० जैकोबी न्यायसूत्रो मे विज्ञानवाद का खण्डन नही स्वीकार करते। सच बात तो यह है कि प्रो० शेरवास्की का मत मान लेने पर न्यायभाष्य आदि न्यायग्रन्थो तथा उनका खण्डन करने वाले दिङ्नाग आदि के बौद्धग्रन्थो के कालक्रम का सामंजस्य नही किया जा सकता। यह तो ध्रुव सत्य है कि दिङ्नाग-कृत न्याय-खण्डन का खण्डन उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक मे किया है, जिसका पुनः खण्डन करके दिङ्नाग के मत का उद्धार आगे आने वाले धर्मकीर्ति ने किया है। धर्मकीर्ति का सप्तम शताब्दी मे होना सर्वथा सुनिश्चित है। इस आधार पर न्यायवार्तिककार का समय षष्ठ शताब्दी भी निश्चित-प्राय है। विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्यो से इसका पूर्ण समर्थन होता है। ६२६ ई० से ६४७ ई० तक राज्य करने वाले महाराज हर्ष की राज्यसभा के प्रमुख सदस्य युवक बाण पचीस-तीस वर्ष के रहे होगे जिससे उनका जन्म ६०० ई० के आस-पास होना चाहिए और उनके द्वारा अपने 'हर्षचरित' ग्रन्थ मे उल्लिखित वासवदत्ता[1] के रचयिता सुबन्धु का ५५० ई० के आस-पास। तब फिर सुबन्धु की वासवदत्ता मे 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' इत्यादि प्रकार से उल्लिखित न्याय-स्थापक उद्योतकर अवश्य ही ५०० ई० से ५५० ई० के बीच रहे होगे। इस प्रकार जब न्यायवार्तिककार उद्योतकर ई० षष्ठ शताब्दी के पूर्वार्ध के हुये, तब दिङ्नाग का समय ई० पचम शताब्दी होना निश्चित ही है। ऐसी स्थिति मे भाष्यकार वात्स्यायन ई० चतुर्थ शतक से बाद के हो नही सकते। तब फिर न्यायसूत्र इससे पूर्व का तो होगा ही। अनेक न्यायसूत्रो पर भाष्य करते हुये वात्स्यायन निश्चय के अभाव मे दो या उससे भी अधिक अर्थ करते है। इससे लगता है कि न्यायसूत्रो के अध्ययनाध्यापन की परम्परा भाष्यकार के समय तक आते-आते विरलातिविरल-छिन्नप्राय हो गई थी और अनेक सूत्रो के स्वरूप तथा अर्थ के विषय मे अनिश्चय उत्पन्न हो गया था। एतदर्थ कई शताब्दियो का समय अपेक्षित होता है। ऐसी स्थिति मे न्यायसूत्र प्रणेता का समय ई० पू० चतुर्थ या पचम शतक से बाद का हो नही सकता। अतः प्रो० शेरवास्की का मत अमान्य है।

---

१. द्रष्टव्य—'कवीनामगलद् दर्पो नून वासवदत्तया'।—हर्षचरित

वैशेषिक दर्शन एवं उसकी परम्परा

वैशेषिक दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते है। 'कणान् अत्तीति कणादः' अर्थात् अन्न-कणो को खाकर जीवन व्यतीत करने वाला। नाम की व्युत्पत्ति से ही महर्षि कणाद का तपः पूत जीवन आँखो के समक्ष मूर्तिमान् हो जाता है। इन्होने दस अध्यायो मे वैशेषिक सूत्रो की रचना की। प्रत्येक अध्याय मे दो-दो आह्निक है। इस दर्शन का प्रारम्भ न्यायदर्शन से पहले माना जाता है। विद्वानो का विचार है कि चरकसंहिता पर वैशेषिक सूत्रो का प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः इनका समय चरक से पूर्व ही रहा होगा। जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका मे एक जनश्रुति के आधार पर बतलाया है कि कणाद मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक के रूप मे प्रकट होकर उन्होने द्रव्यादि पदार्थों का उपदेश दिया था। इसी आधार पर इस दर्शन का 'औलूक्य-दर्शन' भी नाम पड गया।

इसका 'वैशेषिक' नाम क्यो पडा ? इस विषय मे यह चीनी परम्परा प्रचलित है कि साख्य दर्शन से विशिष्ट होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पडा। परन्तु यह परम्परा तथ्यात्मक नही जान पडती। तथ्य तो यह प्रतीत होता है कि 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ मानने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पडा होगा। यह 'विशेष' पदार्थ क्या है ? नित्य द्रव्यो मे रहने वाले उनके भेदक तत्त्व 'विशेष' कहे जाते है।[1] पृथिवी, जल, तेज तथा वायु, इन चार स्थूल अर्थात् कार्य भूतो के परमाणु (सूक्ष्मतम अविभाज्य अवयव) और आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—ये न्याय-वैशेषिक मत से नित्य द्रव्य हैं। इन्ही नित्य द्रव्यो के परस्पर भेदक तत्त्वो के रूप मे 'विशेष' पदार्थ की कल्पना सर्व-प्रथम वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद ने की थी जिसके कारण उनके दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पडा। आगे चल कर न्यायदर्शन मे भी इसकी मान्यता हो गई, यद्यपि उसमे यह मान्यता एकदेशीय ही रही, सर्वमान्य नही बन पाई। महर्षि कणाद को 'विशेष' को पृथक् या स्वतन्त्र पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है :—घट, पट इत्यादि अनित्य द्रव्य तो अपने घटकावयवो से ही परस्पर भिन्न या पृथक् हो जाते है। किन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यो मे तो अवयव ही नही होते, जिनके कारण उनका पारस्परिक भेद हो सके जबकि भेद तो उनमे होता ही है। अतः

---

१. नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।—तर्कसग्रह

इस भेद के कारण-रूप से नित्य द्रव्यो मे रहने वाले 'विशेष' नामक पदार्थ को मानना आवश्यक हो गया। इस प्रकार संक्षेप मे 'नित्यद्रव्य-व्यावर्तकत्व' ही इस 'विशेष' का स्वरूप कहा जा सकता है। विशेष तो ग्रन्थ के 'विशेष' पदार्थ के प्रकरण मे ही द्रष्टव्य है।

वैशेषिक सूत्रो पर आज कोई प्राचीन सूत्रक्रमानुसारी भाष्य उपलब्ध नही है। १५वी ई० शताब्दी के शङ्कर मिश्र द्वारा रचित एक अर्वाचीन भाष्य 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' नाम से उपलब्ध है। ऐसी जनश्रुति है कि वैशेषिक सूत्रो पर 'रावणभाष्य' नाम का कोई भाष्य था जो आज उपलब्ध नही है। इन सूत्रो पर प्रशस्तपादाचार्य-रचित 'पदार्थधर्मसग्रह'[1] नामक प्राचीन भाष्य अवश्य प्राप्त है किन्तु वह सूत्र क्रमानुसारी नही है। जहाँ-तहाँ सूत्र-मुख से किन्तु प्रायः तो स्वतन्त्र रूप से ही यह भाष्य कणाद-रचित सूत्रो का मन्तव्य समझाता है। वैशेषिक सूत्रो मे सर्वप्रथम है—'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' (१।१।१)। दूसरे सूत्र मे 'धर्म' का लक्षण दिया गया है जो इस प्रकार है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः' (१।१।२)। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका भाव लेकर ही भाष्य की ये प्रारम्भिक पक्तियाँ लिखी गई होगी—'द्रव्यगुणसामान्यविशेषसमवायाना षण्णां पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान निःश्रेयसहेतुः, तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव'। इसी से अपने भाष्य का नाम आचार्य प्रशस्तपाद ने 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' रखा होगा। यह भाष्य देखने से वात्स्यायन के न्याय-भाष्य से प्राचीन प्रतीत होता है।

इस भाष्य पर लिखी टीकाओ की एक परम्परा ही है। इससे इसका महत्त्व सहज ही आँका जा सकता है। इनमे प्रधान टीकाये व्योमशिवाचार्य की व्योम-वती (अष्टम) श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली (दशम शताब्दी), उदयनाचार्य की न्यायकिरणावली (दशम शताब्दी) तथा वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती (एका-दश शताब्दी) है।

न्याय तथा वैशेषिक की सम्मिलित परम्परा

यद्यपि न्याय तथा वैशेषिक दर्शनो का स्वतन्त्र प्रस्थानो के रूप मे उद्भव और विकास हुआ है, तथापि दोनो मे पर्याप्त समय पहले से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा

---

१. प्रणम्य हेतुमीश्वर मुनि कणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः॥—भाष्यमङ्गलश्लोक, १

है । दोनो ही 'माहेश्वर' सम्प्रदाय है । महाभारत के एक सन्दर्भ से इन दोनो सम्प्रदायो का घनिष्ट सम्बन्ध सूचित होता है । चरकसहिता मे दोनो के पदार्थों का जो निरूपण मिलता है, उससे विदित होता है कि उस समय दोनो मे भेद नही माना जाता था । बौद्ध परम्परा मे तो पञ्चम ई० शताब्दी तक दोनो सम्प्रदायों को पृथक्-पृथक् नही माना जाता था । दोनो के कुछ सूत्र भी समान है । इस प्रकार दोनो सम्प्रदायो का प्रायः प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्पर्क रहा । आगे भी यह सम्बन्ध बना रहा । न्यायभाष्य मे वात्स्यायन ने मन के इन्द्रियत्व मे 'तन्त्रान्तर' के सिद्धान्त को प्रमाण बताया है ।[1] यह 'तन्त्रान्तर' वैशेषिक ही हो सकता है, जहाँ मन का इन्द्रियत्व स्पष्ट कथित है किन्तु न्याय-सूत्रो मे नही । साथ ही उन्होने वैशेषिक सूत्रोक्त पदार्थों का स्वकीय सिद्धान्तो के रूप मे ही विवेचन किया है । न्यायसूत्र १।१।९ के अपने भाष्य मे 'अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्' इत्यादि लिखकर उनके अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है । उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थो मे तो कतिपय वैशेषिक मन्तव्यो का स्वकीय सिद्धान्तो के समान ही निरूपण किया गया है । उदयन-जैसे महामहिम आचार्य ने दोनो सम्प्रदायो का समान रूप मे ही विवेचन किया है । इसी पृष्ठभूमि मे आगे चलकर दोनो सम्प्रदायो के उस सम्मिलित रूप का उद्भव एव विकास हुआ । जो विशेष रूप से न्याय-वैशेषिक के 'प्रकरण' ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है ।

न्याय-वैशेषिक के प्रकरण-ग्रन्थ

न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायो की परम्परा का विवेचन करते समय आठवी से ग्यारहवी ई० शताब्दी के बीच लिखी गई अनेक टीकाओ का उल्लेख किया जा चुका है । ११वी शती मे सम्भवतः टीकाओ के निर्माण से विद्वानो का मन ऊब गया और उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र-ग्रन्थो के प्रणयन या लेखन की ओर हो गई । नवम-दशम शताब्दियो के भासर्वज्ञ तथा उदयनाचार्य मे भी इस प्रवृत्ति का सङ्केत मिलता है, यद्यपि टीकाओ की परम्परा भी साथ-साथ न्यूनाधिक चलती रही । भासर्वज्ञ का न्यायसार तथा उदयनाचार्य की लक्षणावली एवं न्यायकुसुमाञ्जलि इसी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप रची गई । इस प्रवृत्ति की

---

१. द्रष्टव्य—'मनसश्चेन्द्रियभावात् तन्न वाच्य लक्षणान्तरमिति । तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति' ।—न्यायसूत्रभाष्य १।१।४

प्रधानता के कारण ११वी के बाद के युग को न्याय-वैशेषिक के प्रकरण-ग्रन्थो का युग कहना उचित प्रतीत होता है। इसी समय न्याय-वैशेषिक मे एक विशिष्ट विचारधारा अथवा चिन्तन-प्रणाली का आविर्भाव भी हुआ जिसे नव्यन्याय के नाम से जाना जाता है। इसके जन्मदाता या आविर्भावक १२वी शती के गङ्गेश उपाध्याय नामक प्रतिभाशाली विद्वान् थे जिनका जन्म मिथिला मे हुआ था। उन्होने न्याय के अभिमत प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणों को लेकर तत्त्वचिन्तामणि नामक प्रौढ ग्रन्थ लिखा। यद्यपि भासर्वज्ञ इस क्रम से न्याय का विवेचन कर चुके थे, एव उदयनाचार्य एक नवीन विचार-शैली का प्रवर्तन कर चुके थे, तथापि गङ्गेश की विवेचन-पद्धति कुछ अधिक ही विलक्षण थी। उनका विवेचन अधिक परिष्कृत एव सूक्ष्म था तथा शैली विशिष्ट रूप से परिमार्जित थी। शैलीगत विशेषताओ के अतिरिक्त उसमे तर्क की प्रधानता थी, प्रमाण-विवेचन ही दर्शन का प्रमुख साध्य हो गया और तत्त्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का उद्देश्य गौण। इस प्रकार नव्यन्याय सच्चे अर्थों मे तर्कशास्त्र बन गया।

इस युग मे शास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा प्रमाणादि विशिष्ट विषयो का विवेचन विशेष रूप से हुआ, यह बात तो ऊपर के कथन से स्पष्ट ही हो चुकी है। एतत्परक ग्रन्थ ही प्रकरण-ग्रन्थ कहे जाते है जिनका परम्परागत लक्षण इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

प्रकरण-ग्रन्थो के इस युग मे न्याय एव वैशेषिक सम्प्रदाय एक-दूसरे से अभिन्न हो गये। इस युग मे जो प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये, वे दो वर्गों मे रखे जा सकते हैं, एक तो न्याय-प्रधान-प्रकरण तथा दूसरे वैशेषिक-प्रधान।

न्यायप्रधान प्रकरणो मे सर्व-प्रसिद्ध भासर्वज्ञ-कृत न्यायसार एवं गङ्गेश-उपाध्याय-कृत तत्त्वचिन्तामणि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। न्यायसार एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसी कारण इस पर १८ टीकाये लिखी गईं। भासर्वज्ञ दशम के तथा गङ्गेश द्वादश शतक के हैं। द्वादश के ही वरदराज हैं। जिन्होने तार्किकरक्षा लिखकर आत्मादि प्रमेयो के साथ ही द्रव्यादि पदार्थों की भी गणना करके उनका निरूपण किया है। त्रयोदश शतक के केशवमिश्र ने तर्क-भाषा मे न्यायोक्त सोलह पदार्थो के निरूपण के साथ ही वैशेषिकोक्त द्रव्य-गुण कर्मसामान्यविशेषसमवायाभाव, इन सात पदार्थों का भी निरूपण किया है।

वैशेषिक प्रधान प्रकरणों मे दशम के शिवादित्य एवं उदयनाचार्य एव उनके द्वारा क्रमशः रचित सप्तपदार्थी एव लक्षणावली की चर्चा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि न केवल इन्ही दोनो मे से कोई एक वैशेषिक के प्रकरणग्रन्थो मे प्रथम है अपितु सर्व-प्रथम इन्ही मे वैशेषिक के मूलभूत सिद्धान्तों का सुस्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है। इसके पश्चात् द्वादश के वल्लभाचार्य की सुप्रसिद्ध कृति न्यायलीलावती है जिसकी चर्चा पहले प्रशस्तपाद-भाष्य की टीकाओ मे की जा चुकी है। यहाँ प्रकरणान्तर्गत इसके उल्लेख का उद्देश्य केवल यह ज्ञापित करना है कि किन्ही के अनुसार यह प्रकरण-ग्रन्थ ही है। इसके अनन्तर सप्तदश शतक के विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने न्यायकारिकावली (अपर नाम भाषापरिच्छेद) की रचना की। इस पर न्यायसिद्धान्तमुक्तावली नामक उनकी अपनी ही सुप्रसिद्ध एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका है। इस टीका पर रची गई रामरुद्री एव दिनकरी जैसी टीकाये इस ग्रन्थ की महत्ता प्रकट करती हैं। वैशेषिकोक्त सप्तपदार्थों का विवेचन ही इसमे प्रमुख है। तथापि न्याय के भी प्रमाण, प्रमेय, हेत्वाभासादि समस्त पदार्थों का विवेचन इसमे किया गया है। इस प्रकार यह सम्मिलित न्यायवैशेषिक शास्त्र पर रचा गया एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण-ग्रन्थ है।

अन्नम्भट्ट-कृत तर्कसङ्ग्रह

इसी सप्तदश शतक के रचनाकार अन्नम्भट्ट हैं जिन्होंने अपने तर्कसङ्ग्रह से न्याय-वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र मे अक्षयकीर्ति अर्जित की है। संक्षिप्त, सारग्राही, एव अपेक्षाकृत सरल भाषा मे रचित होने के कारण यह पठन-पाठन मे विशेष रूप से प्रचलित है। इस पर ग्रन्थकार की अपनी ही दो टीकाये है। एक है तर्कसग्रहदीपिका और दूसरी है न्यायबोधिनी। यह ग्रन्थ तर्कशास्त्र या न्याय का प्रवेश-द्वार माना जाता है। न्याय-वैशेषिक के मूलभूत सिद्धान्तो को जानने-समझने के लिये इससे बढकर सरल-सुगम ग्रन्थ अन्य कोई भी नही है। ग्रन्थकार ने मङ्गल-श्लोक मे स्वय भी यह बात कही है—'निधाय बालाना सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रह ॥' इस पर अनेक टीकाये लिखी गई जिनमे २०वी शताब्दी के पूर्वार्ध के नृसिंहदेव शास्त्री की बालबोधिनी विषय के स्पष्टीकरण एव प्रामाणिक विवेचन की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर टीका है। प० शेषराजरेग्मी का पदकृत्य भी महत्त्वपूर्ण है। इन दोनो के ही द्वारा तर्कसग्रह का हिन्दी अनुवाद भी किया गया है जो इनकी सस्कृत-टीकाओ के साथ ही मुद्रित-प्रकाशित है। हिन्दी-अनुवाद के साथ ही विशद हिन्दी-व्याख्या सम्भवतः प्रस्तुत ग्रन्थ की ही विशेषता है।

● ●

श्रीअन्नम्भट्टकृतः

तर्कसङ्ग्रहः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः ।।१।।

अर्थ—जगत् के स्वामी परमेश्वर को हृदय मे रखकर एव गुरु की वन्दना कर, सुकुमार-मति बालको को (न्याय-वैशेषिक शास्त्र के पदार्थों का) सरलतया ज्ञान कराने के लिये 'तर्कसङ्ग्रह' की रचना की जा रही है ।

विशेष—'तर्कसङ्ग्रहः' का विग्रह है—'तर्काणा सङ्ग्रहस्तर्कसग्रहो यस्मिन् सः' अर्थात् वह ग्रन्थ जिसमे तर्कों का संग्रह या प्रतिपादन हो । 'तर्क' कौन है, इस प्रश्न का उत्तर इसकी व्युत्पत्ति से प्राप्त होता है जो इस प्रकार है—'तर्क्यन्ते यथार्थज्ञानविषयीक्रियन्ते इति तर्काः' । अर्थात् वे पदार्थ जिनका यथार्थ ज्ञान या बोध इस ग्रन्थ मे करवाया जाना अपेक्षित है । ये पदार्थ द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव—ये वैशेषिकशास्त्रोक्त सात है । इन्ही का सक्षेप मे वर्णन या निरूपण इस प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य है ।

इस कार्य मे उत्कृष्ट सफलता प्राप्त करने के लिये ग्रन्थकार आदि मे ही ईश्वर एवं गुरु की वन्दना करता है क्योकि इन्ही की कृपा से शास्त्रोक्त पदार्थों का ज्ञान स्वयं प्राप्त करके शिष्यो को भी सफलतापूर्वक प्राप्त करवाया जा सकता है । व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे एतद्विषयक अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते अध्येतारश्च वीरपुरुषकाणि भवन्ति ।' अर्थात् जिस शास्त्र के आदि, मध्य तथा अन्त मे मङ्गलाचरण किया जाता है, वे प्रथित होते है, उनका खूब प्रचार-प्रसार होता है, एव उनके पढ़नेवाले पुरुषार्थी तथा तेजस्वी होते है ।

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने अपने भाष्य मे 'त्रिधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' ऐसा लिखकर न्याय-वैशेषिक शास्त्र की प्रतिपादन-प्रणाली पर प्रकाश डाला है । यह प्रणाली त्रिविध या त्रिसोपानात्मक

है—पहले प्रतिपाद्य पदार्थो का उद्देश्य अर्थात् नाम लेकर कथन-परिगणन करना, फिर उनका लक्षण करना अर्थात् उनके असाधारण धर्म का कथन करके उन्हे सजातीय-विजातीय पदार्थान्तरो से पृथक् करना, अन्तत· लक्षण का परीक्षण करना—यह देखना कि वह लक्षण ठीक है या नही, वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति अथवा असम्भव दोष से दूषित तो नही है। 'अव्याप्ति' दोष क्या है—'लक्ष्यैकदेशे एव लक्षणघटन न तु सर्वदेशे।' अर्थात् जब लक्षण लक्ष्यपदार्थ-मात्र के विषय में घटित न होकर कुछ ही मे घटित हो तब उस लक्षण को अव्याप्ति दोष से दूषित कहा जाता है। जैसे 'गो' का लक्षण 'कृष्णत्वं गोत्वम्' या 'श्वेतत्व गोत्वम्' करने पर यह दोष होगा क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर केवल कृष्ण या केवल श्वेत गो-व्यक्तियो मे ही यह घटित हो सकेगा, अन्य रक्त या कपिल वर्ण वाले गो-व्यक्ति छूट जायेंगे, ये उसके विषय नही बन पायेंगे। इस प्रकार लक्ष्यैकदेशवृत्तित्व एव लक्ष्यैकदेशावृत्तित्व ही अव्याप्ति दोष हुआ। इसी प्रकार अतिव्याप्ति दोष तब होता है जब लक्षण समस्त लक्ष्य मे तो घटित होता ही हो, एतदतिरिक्त अलक्ष्य मे भी व्याप्त होता है—'सर्वत्र लक्ष्ये घटित लक्षणमलक्ष्येऽपि घटेत चेत्तर्हि अतिव्याप्ति.'। दूसरे शब्दो मे इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'लक्ष्यवृत्तित्वे सति अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः'। जैसे, यदि 'शृङ्गित्व गोत्वम्' ऐसा लक्षण 'गो' पदार्थ का किया जाय तो यह दोष होगा क्योकि यह लक्षण सारे गो-व्यक्तियो को विषय बनाने के अतिरिक्त अन्य अज, महिष आदि अलक्ष्य सीग-वाले पशुओ को भी विषय बनाता है। असम्भव नामक दोष तब होता है जब लक्षण लक्ष्य-मात्र मे या उसके एक देश मे, कही भी, व्याप्त न हो। जैसे 'एकशफत्व गोत्वम्' यह लक्षण गो-मात्र मे ही अघटित या अव्याप्त होने से असम्भव दोष से दूषित है। गो के खुर तो बीच से अलग होने के कारण दो होते है, एक नही। यह हुई गो के लक्षण की परीक्षा या जाँच। इस प्रकार इन्ही तीन सोपानो—उद्देश, लक्षण एव परीक्षा मे न्याय शास्त्र के पदार्थ-ज्ञान की प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिपादन-प्रणाली समाहित होती है।

अथ पदार्थोद्देशप्रकरणम्

अब जो न्यायदर्शन को भी मान्य वैशेषिकदर्शन के सप्त पदार्थ हैं, उनका उद्देश इस प्रकार तर्कसङ्ग्रहकार करते है—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।

अर्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य (जाति), विशेष, समवाय तथा अभाव—ये ही सात पदार्थ है ।

विशेष—'पदस्यार्थः अभिधेयार्थः पदार्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पदार्थ' का सामान्य लक्षण बनता है—'अभिधेयत्व पदार्थत्वम्' । पद का यह अभिधेय कार्य होने से पद-निष्ठ वृत्ति अर्थात् व्यापार-विशेष की अपेक्षा रखता है जो न्यायमत से शक्ति और लक्षणा नाम से दो प्रकार की है । इस प्रकार अन्तः 'पदवृत्ति-विषयत्व पदार्थत्वम्' यह 'पदार्थ' का लक्षण हुआ । सारा स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् तार्किको के मत से इन्ही सात पदार्थों मे सङ्गृहीत हो जाता है ।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

अर्थ—इन सप्त पदार्थों मे द्रव्य नामक पदार्थ नौ प्रकार का होता है—पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—ये नौ ही द्रव्य है ।

विशेष—मीमासक तथा कुछ वैशेषिक भी तमस् को दशम द्रव्य मानने के पक्ष मे है । परन्तु वह तेजोऽभाव रूप होने से अभाव पदार्थ के अन्तर्गत ही है, अतः उसे पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नही है, ऐसा सिद्धान्त पक्ष वालो का कथन है ।

'द्रव्य' का लक्षण है—'समवायेन गुणवत्त्व क्रियावत्व वा द्रव्यत्वम्' । अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से गुण अथवा कर्म का आश्रय हो, वह द्रव्य कहा जाता है । उत्पत्ति-क्षण मे घट तो निर्गुण ही उत्पन्न होता है, फिर गुणो के अभाव मे वह 'द्रव्य' कैसे होगा ? इस शका का समाधान यह है कि उत्पत्तिक्षणानन्तर ही उसमे रूप, परिणाम आदि गुण उत्पन्न हो जाते है, अतः उसमे भी 'गुणाश्रयत्व' लक्षण घटित हो जाता है । इस प्रकार 'गुणाश्रयत्व' का अभिप्राय 'गुणयोग्यत्व'—जिसमे गुणो को धारण करने की, गुणो का आश्रय बनने की योग्यता हो, वर्तमान मे गुणो का अभाव होने पर भी निकट भविष्य मे जिसमे गुण उत्पन्न हो जाते हो—वह 'गुणाश्रय' ही कहा जायगा, एव च गुणाश्रय होने से 'द्रव्य' होगा ही । जिसमे गुण कभी हो ही नही, वह द्रव्य नही होगा । अतः 'गुणयोग्यता' का अर्थ है 'गुणात्यन्ताभावाभावः' अर्थात् गुणो के आत्यन्तिक अभाव का अभाव अर्थात् गुणो का कभी-न-कभी भाव या उत्पत्ति ।

रूप - रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द- बुद्धि-सुख-दुखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-संस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः ।

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार—ये ही चौबीस गुण है ।

विशेष—ये चौबीस गुण समवाय सम्बन्ध से द्रव्यो मे ही रहते है, अन्य किसी पदार्थ मे नही । इनका सामान्य लक्षण है—'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वम्' । अर्थात् द्रव्य और कर्म के अतिरिक्त जो सामान्यवान् है, जिसमे सामान्य रहता है, उसे गुण कहते है । सामान्य या जाति पदार्थ केवल तीन—द्रव्य, गुण और कर्म—मे ही रहता है । इस प्रकार द्रव्य एव कर्म के अतिरिक्त केवल गुण ही ऐसा पदार्थ है जो सामान्यवान् है अर्थात् जिसमे सामान्य रहता है । इन चौबीस गुणो मे से सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग एव विभाग तो सभी द्रव्यो मे रहते है । परत्व तथा अपरत्व सभी मूर्त द्रव्यो मे रहते है, विभु द्रव्यो मे नही ।

अब पाँच प्रकार के कर्मो का कथन किया जाता है—

उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि ।

अर्थ—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन के भेद से कर्म पाँच प्रकार के होते है ।

विशेष—उत्क्षेपण आदि पाँच ही कर्म है, न कम न अधिक । यद्यपि भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि भी कर्म ही है परन्तु ये गमन के ही भिन्न प्रकार होने के कारण उसी मे अन्तर्भूत है । इस प्रकार कर्म के पाँच ही प्रकार या भेद हुये । इनमे उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर की ओर फेकना । अपक्षेपण का अर्थ है नीचे की ओर फेकना । आकुञ्चन है समेटना, सिकोडना । प्रसारण है फैलाना और गमन है चलना । भ्रमण है चक्रवत् क्रिया अर्थात् घूमना, रेचन है खाली करना जैसे बोतल, शीशी आदि मे भरे द्रव को बाहर निकालकर उसे खाली करना । फेफडे से वायु को बाहर निकालना भी रेचन ही है । स्यन्दन-स्यदि प्रस्रवणे धातु से निष्पन्न होने से झरने या बहने के अर्थ

मे प्रयुक्त होता है। ऊर्ध्वज्वलन तो वह्नि का और तिर्यग्गमन (तिरछी गति) वायु का कर्म है जो सर्व-विदित ही है।

'कर्म' का लक्षण है—'सयोगभिन्नत्वे सति सयोगासमवायिकारणत्वम्'। अर्थात् सयोग के अतिरिक्त जो सयोग का असमवायि कारण है, उसे कर्म कहते है। चूँकि सयोग का असमवायिकारण सयोग भी होता है, अतः उसमे अति-व्याप्ति हटाने के लिये 'सयोगभिन्नत्वे' विशेषण देना आवश्यक हो गया। ऐसा करने से सयोग के अतिरिक्त सयोग का असमवायिकारण केवल 'कर्म' ही बचता है। इस प्रकार यह 'कर्म' का ठीक लक्षण हुआ।

एतदनन्तर द्विविध 'सामान्य' पदार्थ का कथन किया जाता है—

परमपरं च द्विविधं सामान्यम्।

अर्थ—सामान्य दो प्रकार का होता है—परसामान्य और अपर सामान्य।

विशेष—सामान्य का ही दूसरा नाम 'जाति' है। 'पर' वह है जो अधिक देश मे रहे और 'अपर' वह है जो न्यून देश मे रहे—'परत्वमधिकदेश-वृत्तित्वम्, अपरत्व च न्यूनदेशवृत्तित्वम्'। जैसे, 'द्रवत्व' पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्यो मे रहने के कारण केवल पृथिवी, या केवल जल आदि मे रहने वाले पृथिवीत्व, जलत्व आदि की अपेक्षा अधिक देश या स्थान मे रहने के कारण 'पर सामान्य' है, एव उसकी अपेक्षा कम देश मे रहने वाले पृथिवीत्व, जलत्व आदि 'अपरसामान्य' है। 'सामान्य' का लक्षण है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्'। अर्थात् जो नित्य हो, एवं अनेक मे समवाय सम्बन्ध से वर्तमान हो, वह 'सामान्य' नामक पदार्थ है। परमाणु द्रव्य नित्य तो होते हैं परन्तु वे अनेक-समवेत नही होते। इसके विपरीत द्वयणुक, त्र्यणुक से लेकर महाभूत पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु अनेक मे समवेत होने पर भी नित्य नही होते। इसी प्रकार गुण एव कर्म भी नित्य नही अपितु उत्पद्यमान होने से अनित्य होते है। इस प्रकार नित्यानित्य द्रव्य, गुण एव कर्म—इन तीनो मे ही इस लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी। समवाय और अभाव पदार्थ भी समवाय सम्बन्ध से किसी मे नही रहते। बचा 'सामान्य' पदार्थ जो नित्य भी है, साथ ही अनेक व्यक्तियो मे समवाय सम्बन्ध रहता है, अतः 'नित्यत्वे सति अनेक-समवेतत्वम्' यह 'सामान्य' पदार्थ का ठीक लक्षण सिद्ध हुआ। वस्तुतः तो इसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाला लक्षण है—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुभूतो नित्यधर्मः

सामान्यम्'। अर्थात् समान अवयव वाली अनेक व्यक्ति-वस्तुओ मे जो समान प्रत्यय या बोध का कारण बने, वह सामान्य है। जैसे, अनेक गो-व्यक्तियो मे 'यह गौ है, यह गौ है' इस प्रकार का समान बोध होता है, उसका हेतुभूत धर्म है 'गोत्व'। अतः यह सामान्य हुआ। यह गोत्व क्या है—समस्त गो-व्यक्तियो को अन्य अश्व, महिष इत्यादि व्यक्तियो से अलग करने वाला तन्निष्ठ सास्नादिमत्त्व (गलकम्बल इत्यादि वाला होना) धर्म। इसी से 'सास्नादिमान् गौः' यह 'गौ' का लक्षण हुआ। अनेक मे रहना आवश्यक है, इससे स्पष्ट है कि आकाश, जो एक ही है अनेक नही, मे रहने वाला तथा अन्य पृथिवी आदि से उसे पृथक् (व्यावृत्त) करने वाला 'आकाशत्व' धर्म सामान्य या जाति नही कहा जा सकता। इसे 'उपाधि' कहा जाता है। इस प्रकार एकवृत्तित्व या एकसमवेतत्व 'सामान्य' का बाधक है। इसके अतिरिक्त अन्य कई जाति-बाधक उदयनाचार्य ने कहे है जो इस प्रकार है :—"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रह" ॥—(उदयनाचार्यकृत किरणावली)। इस प्रकार जातिबाधक छः है।

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव। √

अर्थ—नित्य द्रव्यो मे रहने वाले 'विशेष' तो असङ्ख्य या अनेक हैं, ('समवाय' पदार्थ की तरह एक नही)।

विशेष—पृथिवी, जल, तेज तथा वायु—इन चार स्थूल भूतो के परमाणु (सूक्ष्मतम अवयव) और आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन न्याय-वैशेषिक मत से नित्य दिव्य है। इन्ही नित्य द्रव्यो के परस्पर भेदक तत्त्वो के रूप मे 'विशेष' की कल्पना सर्वप्रथम वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद ने की थी जिसके कारण उनके दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड गया। आगे चलकर न्यायदर्शन मे भी इसकी मान्यता हो गई, यद्यपि उसमे यह मान्यता एकदेशीय ही रही, सर्वमान्य नही बन पाई।

महर्षि कणाद को 'विशेष' को पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—घट, पट इत्यादि अनित्य द्रव्य तो अपने घटकावयवो से ही परस्पर भिन्न हो जाते है। किन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यो मे तो अवयव ही नही होते जिनके कारण उनका पारस्परिक भेद हो सके। और भेद तो उनमे है ही। अतः इस भेद के कारण-रूप से नित्य द्रव्यो

मे रहने वाले 'विशेष' नामक पदार्थ को मानना आवश्यक हो गया जो परस्पर भेदक या व्यावर्तक हो। इस प्रकार 'नित्यद्रव्य-व्यावर्तकत्व' ही इस 'विशेष' का स्वरूप कहा जा सकता है। प्रत्येक नित्यद्रव्य के 'विशेषो' का पृथक्-पृथक् होना आवश्यक है क्योकि 'गौरयम्, गौरयम्' की तरह ही यदि 'विशेषोऽयम्, विशेषोऽयम्' मे भी समानता का प्रत्यय या बोध मानेगे तो 'विशेष' के 'व्यावर्तकत्व' स्वरूप की हानि हो जायगी। इसीलिये स्वरूप-हानि को पीछे जाति-बाधको मे गिनाया गया है। यदि ये भी समान होते तो इनमे भी गोत्व आदि की तरह ही 'विशेषत्व' जाति होती। असङ्ख्य नित्य द्रव्यो मे रहने वाले ये 'विशेष' पृथक्-पृथक् होने से ही असख्य (अनन्त) माने जाते है। इनमे आपस मे कोई साम्य नही है, ये स्वरूपतः ही एक-दूसरे से पृथक् हैं। इस प्रकार "स्वतोव्यावर्तकत्व विशेषत्वम्" ऐसा 'विशेष' पदार्थ का लक्षण बनता है। न्यायवैशेषिक के अनुसार परमाणु ही अन्तिम द्रव्य है, जिनसे पृथिवी, जल, तेज तथा वायु स्थूल भूत बनते है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—ये पाँच सूक्ष्मतम द्रव्य तो परमाणुहीन और नित्य होने से कार्य है ही नही। प्रलयकाल मे इन्ही नित्यो मे रहने के कारण ये विशेष 'अन्त्य'-'अन्ते भवा अन्त्याः'—कहे जाते है। इस प्रकार 'अन्त्यत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तित्व विशेषत्वम्' ऐसा भी लक्षण 'विशेष' पदार्थ का बनता है। किन्तु विशेष रूप से स्वरूपोद्-घाटक होने के कारण पूर्वोक्त 'स्वतोव्यावर्तकत्व विशेषत्वम्' ही इसका प्रमुख लक्षण सिद्ध होता है।

समवायस्त्वेक एव।

अर्थ—'समवाय' पदार्थ तो एक ही प्रकार का होता है।

विशेष—वस्तुतः 'समवाय' भी 'सयोग' नामक गुण की तरह ही एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। भेद इतना ही है कि संयोग जहाँ अनित्य होता है, वहाँ 'समवाय' नित्य होता है, इसी से 'नित्यसम्बन्धत्व समवायत्वम्' ऐसा 'समवाय' का लक्षण बनता है। किन्तु समवाय की न्याय-वैशेषिक दर्शन मे विशेष महत्ता के कारण ही इसे सामान्य 'सम्बन्ध' नामक गुण-पदार्थ से अलग करके एक स्वतन्त्र पदार्थ मान लिया गया है। इसकी महत्ता का पूर्वा-भास 'विशेष' पदार्थ की पूर्वकृत व्याख्या के अन्तिम भाग से हो जाता है। वहाँ कहा गया है कि नित्य सूक्ष्मतम परमाणुओ से ही क्रमशः अनित्य स्थूलतम पृथिवी, जल, तेज तथा वायु की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति मे 'समवाय'

की अपेक्षा होती है। बिना समवाय के सूक्ष्म से स्थूल की सृष्टि हो ही नही सकती। दो परमाणुओ मे समवेत (समवाय सम्बन्ध से युक्त) होकर ही एक 'द्वयणुक', तीन द्वयणुकों मे समवेत होकर एक स्थूल 'त्र्यणुक' (या त्रसरेणु), चार 'त्र्यणुको' मे समवेत होकर एक अधिक स्थूल 'चतुरणुक' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से अन्ततः महास्थूल पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु की सृष्टि होती है। जब तक द्वयणुकादि कार्य रहेगे तब तक वे अपने घटकावयवो—परमाणु आदि-मे समवेत होकर ही—समवाय सम्बन्ध से ही रहेगे। इस प्रकार समवायी और समवेत के बीच का समवाय सम्बन्ध समवेत कार्य द्रव्य के सत्ता-काल तक नित्य रहेगा। इसी से उसे नित्य सम्बन्ध कहा जाता है और 'नित्य-सम्बन्धत्वं समवायत्वम्' ऐसा उसका लक्षण किया जाता है। शब्दान्तर से 'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः' ऐसा भी लक्षण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि दो अयुतसिद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते है। यह 'अयुतसिद्ध' क्या है ? 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से अमिश्रण अर्थात् 'पृथक्' अर्थ मे बने 'युत' शब्द से 'अपृथग्भूत' अर्थ मे 'अयुतौ' 'न युतौ' शब्द बनता है। फिर 'अयुतावेव सिद्धौ' इस अर्थ मे 'अयुतसिद्धौ' समास बना। इसका अर्थ है—जो पृथक्-पृथक् सिद्ध न हो, अलग-अलग न रह सके, जैसे तन्तु (धागे) और उनसे बना वस्त्र-खण्ड। 'तयोः सम्बन्धः समवायः' अर्थात् ऐसा ही दो वस्तुओ के बीच का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। यह इस लक्षण का तात्पर्य है। इस सब तथ्य को स्पष्ट करने वाली एक कारिका सुप्रसिद्ध है जो इस प्रकार है—'तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः। अनश्यदेकम-पराश्रितमेवावतिष्ठते ॥' इसमे आया हुआ 'अनश्यत्' शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'नष्ट न होता हुआ' अर्थात् अपने नाश की प्रक्रिया प्रारब्ध होने के पूर्व सत् वस्तु। यह अपने जिस उपादान पर आश्रित होकर रहती है, वही उसका समवायिकारण होता है, जैसे वस्त्र का समवायिकारण तन्तु। यह वस्त्र जब तक रहेगा, अपने उपादान-भूत तन्तुओ मे ही समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से रहेगा, उनसे पृथक् नही। पृथक् तो विनाश-काल मे ही होगा। यही 'अनश्यत्' कहने का तात्पर्य है।

अभावश्चतुर्विधः-प्रागभावः, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभावः, अन्योन्याभावश्चेति।

अर्थ—अभाव के चार प्रकार या भेद होते है—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

विशेष—अभावबोधक 'नञ्' शब्द से उत्पन्न प्रत्यय या बोध के विषय को 'अभाव' कहते है। जैसे, 'यहाँ घट नही है'—इस वाक्य मे 'नही' से घटाभाव का बोध है। इसलिये इसका लक्षण इस प्रकार किया जाता है—'नञ्शब्दजन्यबोधविषयत्वम् अभावत्वम्'। इसके चारो भेदो के लक्षण आगे आने वाले 'अभाव' प्रकरण मे समझाये जायेगे।

अथ द्रव्यलक्षणप्रकरणम्

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा—नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। सा पुनस्त्रिविधा, शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहक घ्राण नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

अर्थ—उन नौ द्रव्यो मे जो द्रव्य गन्ध गुण वाला है, वह पृथिवी है। वह पृथिवी नित्य और अनित्य रूप से दो प्रकार की है। परमाणुरूप पृथिवी नित्य और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद अनित्य पृथिवी फिर तीन प्रकार की होती है। हम लोगो के शरीर पृथिवी के है (इसी से 'पार्थिव' कहे जाते हैं)। पृथिवी से बनी इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय है जो पृथिवी के विशेष गुण 'गन्ध' को ग्रहण करती है। इसका स्थान नासिका का अग्रभाग है जहाँ वह रहती है। परन्तु 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' अर्थात् इन्द्रियाँ सूक्ष्म होती है, इस नियम से दिखाई नही पडती। मृत्तिका, पाषाण आदि पृथिवी के 'विषय' रूप हैं।

विशेष—'गन्ध' पृथिवी का विशेष गुण होने से 'गन्धाश्रयत्वम् पृथिवीत्वम्' या 'गन्धसमवायिकारणत्वम् पृथिवीत्वम्' यह पृथिवी का लक्षण है। 'शरीर' का लक्षण है—'भोगायतन शरीरम्'—जो कर्मों के भोग का स्थान या क्षेत्र है, वह शरीर कहा जाता है। अथवा शरीर मे भोगार्थ चेष्टा होने के कारण 'चेष्टाश्रयः शरीरम्' यह 'शरीर' का लक्षण है जो भोग मे परमसाधन अर्थात् करण—उत्कृष्ट कारण है, उन्हे 'इन्द्रिय' कहते है। जो शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त भोग मे साधन बनता है, वह 'विषय' है—'शरीरेन्द्रियभिन्नत्वे सति भोगसाधनत्व विषयत्वम्'।

ये सब प्रकार स्थूलरूप अनित्य पृथिवी के है। नित्य पृथिवी का परमाणु रूप कहा जा चुका है। इसके अवयव नही होते, ये ही अन्तिम अवयव है,

अतएव अविभाज्य है। इसी से इनका लक्षण 'मूर्त्तत्वे सति निरवयवत्वम्' है। इसका विवरण इस प्रकार है—

जालान्तरगते भानौ, सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठश्च यो भागः, परमाणुः स उच्यते ।।

अर्थात् जाली से कमरे मे प्रविष्ट होती हुई सूर्य-किरणो के मार्ग मे जो रजः-कण दिखाई पडता है (जिसे त्र्यणुक कहते है), उसका षष्ठ (छठाँ) भाग 'परमाणु' कहा जाता है।

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः—नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपाः, अनित्याः कार्यरूपाः। ताः पुनस्त्रिविधाः, शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहक रसनं जिह्वाग्र-वर्ति। विषयः सरित्-समुद्रादिः।

अर्थ—जिसमे शीतस्पर्श (समवाय सम्बन्ध से) रहता है उसे जल कहते हैं [इस प्रकार समावायेन शीतस्पर्शवत्व जलत्वम्' यही जल का लक्षण है] यह दो प्रकार का होता है—नित्य तथा अनित्य। परमाणु रूप सूक्ष्म जल नित्य तथा कार्यरूप स्थूल जल अनित्य है। यह अनित्य जल पुनः तीन प्रकार का होता है—शरीररूप, इन्द्रियरूप तथा विषयरूप। जलीय अर्थात् जल-निर्मित शरीर वरुणलोक वालों का होता है। जलीय इन्द्रिय रसना है जो खट्टे-मीठे-नमकीन आदि सभी प्रकार के रस का ग्रहण करती है। यह जिह्वा की नोक (अग्रभाग) पर रहती है (किन्तु स्वय जिह्वा नही, उससे भिन्न है) सरित् समुद्र इत्यादि विषयरूप जल है।

उष्णस्पर्शवत् तेजः। तच्च द्विविध—नित्यमनित्यं च। नित्य परमाणुरूपम्, अनित्यं कार्यरूपम्। तच्च पुनस्त्रिविधं, शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रिय रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधः, भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्य विद्युदादि। भुक्तान्नपरिणाम-हेतुरुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

अर्थ—(समवाय सम्बन्ध से) उष्ण स्पर्श जिसमे हो, वह तेज है [इस प्रकार 'समवायेन उष्णस्पर्शवत्वं तेजस्त्वम्' यही तेज का लक्षण है]। यह दो प्रकार का होता है—नित्य तथा अनित्य। परमाणुरूप सूक्ष्म तेज नित्य तथा

कार्यरूप स्थूल तेज अनित्य होता है। यह अनित्य तेज पुनः तीन प्रकार का होता है—शरीररूप, इन्द्रियरूप तथा विषयरूप। तैजस या तेजोनिर्मित शरीर सूर्यलोक वालो का होता है, यह प्रसिद्ध है। तैजस इन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय है जो सभी प्रकार के रूप एव रूपवाले द्रव्यो के प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। यह इन्द्रिय आँख के मध्य मे काले तिल के अग्रभाग मे रहती है। विषयरूप तेज चार प्रकार का है—भौम अर्थात् भूलोक मे स्थित, दिव्य अर्थात् द्युलोक मे स्थित, उदर्य अर्थात् उदर (पेट) मे स्थित, एव आकरज अर्थात् खान मे स्थित। अग्नि आदि भौम तेज है। जल इन्धन वाले सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इत्यादि दिव्य तेज है। खाये गये अन्न को पचाने वाला तेज उदर्य तेज है (जिसे जाठराग्नि कहते है)। सुवर्ण इत्यादि खनिज धातुये आकरज तेज है [आकर अर्थात् खनि या खान, उसमे स्थित एव उससे उत्पन्न]।

रूपरहितस्पर्शवान् वायु.। स द्विविधो—नित्यः अनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः, अनित्यः कार्यरूपः। स पुनस्त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहक त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तः-सञ्चारी वायुः प्राणः। स एकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

अर्थ—जिसमे रूप का अत्यन्ताभाव है, और समवाय सम्बन्ध से स्पर्श रहता है, उसका नाम वायु है। वह दो प्रकार है—नित्य तथा अनित्य। परमाणुरूप सूक्ष्मवायु नित्य तथा कार्यरूप स्थूल वायु अनित्य है। यह अनित्य वायु पुनः तीन प्रकार का है—शरीररूप, इन्द्रियरूप तथा विषयरूप। वायव्य या वायवीय शरीर तो वायुलोक वालो का होता है। स्पर्श का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने वाला सर्वशरीर व्यापी 'त्वक्' इन्द्रिय है। वृक्षादि के कम्पन का हेतुभूत वायु ही विषयरूप वायु है। शरीर के भीतर सञ्चरण करने वाले वायु का नाम 'प्राण' है। यद्यपि यह एक है तथापि स्थान रूप उपाधि के भेद से प्राण, अपान, समान, उदान एव व्यान—इन पाँच नामो से जाना जाता है।

विशेष—हृदय-स्थानवर्ती वायु 'प्राण', गुदा-स्थानवर्ती वायु 'अपान', नाभि-स्थानवर्ती वायु 'समान', कण्ठ-स्थानवर्ती 'उदान', तथा समस्तशरीरवर्ती 'व्यान' वायु कहा जाता है। मन आदि के भी 'शरीरान्तःसञ्चारी' होने से प्राणादि होने का प्रसङ्ग उठेगा, अत. 'वायु' इतना अधिक कथन करके उसको

प्राणादि से अलग कर दिया गया। मन वायु नही है, इसी से वह प्राणादि के भी अन्तर्गत नही है। मुख और नाक से प्रवेश करने तथा निष्क्रमण करने के कारण यह अन्त -सञ्चारी वायु 'प्राण' अशित (खाये गये अन्नादि)-पीत (पिये गये रस आदि) के परिपाक के लिये जाठराग्नि को उस तक पहुँचाने के कारण समान, मलादि को नीचे गुदामार्ग तक पहुँचाने के कारण अपान, अन्नादि को ऊपर ले जाने से उदान, तथा सर्वशरीरव्यापी होने से व्यान कहा जाता है। इस विषय मे यह श्लोक सुप्रसिद्ध है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः, समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशे च, व्यानः सर्वशरीरगः॥

इन पाँच संज्ञाओं या नामो को प्राप्त करने वाला, एक ही अन्तः-सञ्चारी वायु प्रथम अर्थात् 'प्राण' नाम से जाना जाता है। प्राण का विषयरूप वायु मे ही अन्तर्भाव है जैसा कहा भी गया है—'प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो बिषयो मतः' अर्थात् प्राण से लेकर महाभूत वायु पर्यन्त विषयरूप वायु ही है।

शब्दगुणकमाकाशम्, तच्चैकं विभु नित्यं च।

अर्थ—समवाय सम्बन्ध से शब्द गुण जिस द्रव्य मे रहता है, वह आकाश कहलाता है। [इस प्रकार 'शब्दाश्रयत्व, शब्दसमवायिकारणत्वं वा आकाशत्वम्' यह 'आकाश' द्रव्य का लक्षण हुआ।] यह आकाश एक, नित्य अर्थात् सार्वकालिक तथा विभु अर्थात् सार्वदेशिक या सर्वव्यापी है।

विशेष—आकाश का कोई भेद नही होता। इसी से वह एक कहा गया। घटाकाश, मठाकाश आदि भेद तो घट, मठ आदि के कारण होने से औपाधिक है, वास्तविक नही। 'नित्य' का अर्थ है अविनाशी। जिसका नाश होता है, उसकी उत्पत्ति पूर्व मे हुई रहती है। अतः न जन्म लेने वाला और न नष्ट होने वाला 'नित्य' हुआ। इसी से आकाश के कार्य-स्थूल रूप—का कथन नही किया गया।

उपनिषदो मे आकाश को भी परमात्मा से उत्पन्न कहा गया है, जैसे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाश. सम्भूत., आकाशाद् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्य. पृथिवी……' [तैत्तिरीय० २।१] इससे स्पष्ट है कि परमार्थतः तो आकाश भी उत्पन्न होने से कार्य है और उसका कारण से अनित्य अर्थात् विनश्वर है। तब फिर न्याय दर्शन मे उसे अकार्य और नित्य क्यो कहा

गया ? 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुति-वचन आकाश को सर्वव्यापी तथा नित्य बताकर उसे सर्वव्यापक एव नित्य परमात्मा का उपमान बताते है, इससे उसका व्यावहारिक नित्यत्व अर्थात् वायु इत्यादि की अपेक्षा चिर-स्थायित्व सिद्ध होता है। महाभूतो मे सर्वाधिक चिरस्थायित्व आकाश का ही है, इसी से श्रुति मे नित्यत्व के उपमान रूप मे वह वर्णित है और इसी से न्यायदर्शन ने भी उसे नित्य—अजात या आकार्य—कह दिया।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

अर्थ—अतीत अर्थात् भूत इत्यादि (भूत, भविष्य, वर्तमान) व्यवहार के (असाधारण) कारण को काल कहते है। वह एक, सर्वव्यापी तथा नित्य है।

विशेष—भूत, भविष्य और वर्तमान—ये काल के व्यावहारिक या औपाधिक भेद है। परमार्थतः काल एक ही है। काल विभु या व्यापक है क्योकि विभिन्न द्रव्यो मे एक ही साथ काल-मूलक परत्व (बडा, ज्येष्ठ) अपरत्व (छोटा, कनिष्ठ) कार्यो (भावो) की उत्पत्ति होती है। विभु होने से काल परम महान् है और परममहान् होने से ही नित्य है। क्योकि अनित्य द्रव्य द्व्यणुक के समान अणु, अथवा घट के समान मध्यम-परिमाण ही हो सकता है।

काल अपने निजी स्वरूप मे अतीत, वर्तमान, अथवा भविष्यत् नही होता किन्तु उसमे उत्पन्न होने वाली क्रियाये अतीत, वर्तमान और भविष्यत् होती है। उनके द्वारा ही उनके आश्रयभूत काल को अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् कहा जाता है, जैसे एक ही पुरुष पकाने की क्रिया करने के कारण पाचक (रसोइया), और पढने-पढाने की क्रिया करने के कारण पाठक कहा जाता है।

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका नित्या विभ्वी च।

अर्थ—प्राची (पूर्व), प्रतीची (पश्चिम) इत्यादि व्यवहार के (असाधारण) कारण को 'दिक्'—दिशा—कहते है। वह परमार्थतः एक अर्थात् विभाग-रहित या अविभाज्य, नित्य और विभु है।

विशेष—प्राची, प्रतीची, अवाची (दक्षिण दिशा), उदीची (उत्तर दिशा)—ये एक ही सर्वव्यापी तथा विभागरहित दिक् के एक काल की ही भाँति व्यावहारिक या औपाधिक भेद है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—इन चार प्रमुख भेदो के अतिरिक्त चार विदिक् या अप्रमुख दिशाये आग्नेय, नैऋत्य,

वायव्य तथा ईशान है। ऊपर तथा नीचे को मिलाने से इनकी कुल सख्या दस हो जाती है। इसी से इनके अधिष्ठाता देवो—दिक्पालो—की सख्या भी दस है। 'दसो दिक्पाल'—ऐसा व्यवहार इसी कारण होता है। जैसे काल का एक पृथक् या स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे अनुमान होता है, उसी प्रकार दिक् का भी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे अनुमान होता है। काल-कृत परत्वापरत्व—ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व—से भिन्न परत्वापरत्व—दूरत्व तथा समीपत्व—से इसका अनुमान होता है। जैसे पटना से प्रयाग आने पर पहले काशी पडता है, तब प्रयाग। अतः कहा जाता है कि पटना से काशी प्रयाग की अपेक्षा 'अपर' अर्थात् अदूर या समीप है और पटना से काशी की अपेक्षा प्रयाग 'पर' अर्थात् दूर है। यह परत्वापरत्व की प्रतीति कार्य होने से किसी कारण से उत्पन्न होनी चाहिये। वह कारण 'दिक्' (मध्यस्थ स्थान) ही है। इसके अतिरिक्त पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि प्रतीतियो से भी 'दिक्' का अनुमान होता है। लोक मे इस प्रकार की प्रतीतियो का होना अनुभवसिद्ध है कि जिस स्थान मे मै इस समय स्थित हूँ, उससे अमुक स्थान पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण है। इन प्रतीतियो मे तीन विषयो का भान स्पष्टतः होता है, एक वह स्थान जहाँ इन प्रतीतियो का कर्ता अवस्थित है, दूसरा वह स्थान जिसे वह अपने स्थान से पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण अवस्थित समझता है, और तीसरा वह जिसका उल्लेख प्रतीत-कर्ता पूर्व पश्चिम आदि शब्दो से करता है। यह विषय दिक् से भिन्न नही हो सकता, क्योकि पूर्व या पश्चिम दिशा मे स्थित वस्तु ही पूर्व या पश्चिम होती है, अर्थात् वस्तु मे पूर्व या पश्चिम होने की प्रतीति दिशा के द्वारा ही होती है। यह दिक् वस्तुतः एक है किन्तु जब पूर्व, पश्चिम आदि शब्दो से दिक् का उल्लेख किया जाता है, तब वास्तविक रूप मे उसका उल्लेख अभीष्ट नही होता। जैसे, उक्त प्रतीतियो का कर्ता जब उदीयमान सूर्य को देखता है, तब वह एक ही दिक् को सूर्य और अपने बीच मे आने वाले स्थानो के सम्पर्क मे पूर्व कहता है, अपने पीछे पडने वाले स्थानो के सम्पर्क मे पश्चिम कहता है, अपने दाहिने हाथ पडने वाले स्थानो के सम्पर्क मे दक्षिण कहता है, और अपने बाये हाथ पडने वाले स्थानो के सम्पर्क मे उत्तर कहता है।

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः, जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव सुखदुःखादिरहितः। जीवात्मा प्रतिशरीर भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

अर्थ—ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहते है। जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद से वह दो प्रकार का होता है। उनमे परमात्मा जो सर्वशक्तिमान् (ईश्वर) एव सर्वज्ञानवान् (सर्वज्ञ) है, एक ही है। वह धर्माधर्म या पुण्यपाप के अभाव के कारण उनके फल सुख और दु ख के भोग से रहित है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न है, किन्तु परमात्मा की तरह ही विभु एव नित्य है।

विशेष—प्रस्तुत सन्दर्भ मे आत्मा तथा उसके भेद परमात्मा तथा जीवात्मा के लक्षण प्रस्तुत किये गये है। 'आत्मा' का लक्षण है (समवाय सम्बन्ध से) ज्ञान का आश्रय होना। आत्मा के अतिरिक्त शेष आठ द्रव्यो मे से किसी मे भी ज्ञान का आश्रय होने की योग्यता नही है। यद्यपि न्याय आत्मा के विषय मे प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द या आगम, इन तीनो ही प्रमाणो को मानता है, तथापि तीनो मे अनुमान को ही प्राधान्य देता है, जैसा कि न्यायसूत्र १.१.१० 'इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' से स्पष्ट है। इच्छा, द्वेषादि गुण अपने समवायिकारण या आश्रय रूप से आत्मा का अनुमान कराने मे लिङ्ग बनते है। क्योकि ये इच्छादि पृथिव्यादि किसी द्रव्य मे तो रह नही सकते किन्तु 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' अथवा 'गुणसमवायिकारण द्रव्यम्' नियम से किसी द्रव्य के बिना भी नही रह सकते। अतः जिनमे ये रहते है वही द्रव्य आत्मा है। इस प्रकार न्याय ज्ञान (चैतन्य) को आत्मा का गुण ही मानता है, वेदान्त की तरह उसका स्वरूप नही। न्यायगत परमात्मा अथवा ईश्वर का अनुमान तो सर्व-प्रसिद्ध है। उदयनाचार्य के विख्यात न्यायकुसुमाञ्जलि नामक प्रकरण-ग्रन्थ का तो एकमात्र विषय यही ईश्वरानुमान है। विश्वनाथ की न्यायमुक्तावली मे यह अनुमान अत्यन्त सक्षेप मे इस प्रकार दिया गया है—'क्षित्यङ्कुरादिक कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्। न च तत् कर्तृत्वमस्मदादीना सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः।' इस प्रकार 'जगज्जननादि-कर्तृत्वमीश्वरत्वम्' यह ईश्वर का लक्षण प्राप्त होता है। अथवा, 'समवायेन नित्य ज्ञान-वत्त्वमीश्वरत्वम्' यह भी लक्षण किया जा सकता है। इस अनुमान से भी स्पष्ट है कि न्यायदर्शन मे ईश्वर जगत् का कर्ता अर्थात् निमित्तकारण मात्र है, वेदान्त की तरह वह इसे जगत् का उपादान कारण नही मानता। 84.

सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूप नित्यं च।

अर्थ— सुख, दुःख इत्यादि आन्तरिक (आत्मस्थ) गुणो की उपलब्धि के साधन-भूत अन्त.करण को 'मन' कहते है। यह प्रत्येक आत्मा मे नियत होने से अनन्त, परमाणु-रूप अर्थात् सूक्ष्म तथा नित्य है।

विशेष—सुख-दुःखादि की प्राप्ति मे मन के अतिरिक्त आत्म-मन.-सन्निकर्ष भी साधन है, अतः उसमे अतिव्याप्ति को रोकने के लिये मूल मे 'इन्द्रिय' पद दिया गया है। आत्ममन:-सयोग के इन्द्रिय न होने से अतिव्याप्ति दोष नही होता। इस प्रकार 'सुखाद्युपलब्धिसाधनत्वे सति इन्द्रियत्व मनस्त्वम्' ऐसा मन का लक्षण सम्पन्न हुआ। केवल 'उपलब्धिसाधन' कहने से रूप, रस इत्यादि बाह्य विषयो के ज्ञान के साधन चक्षु, रसना इत्यादि बाह्य करणो मे अतिव्याप्ति होती, अतः उसे रोकने लिये 'सुखदुःखादि' पद दिया गया। चक्षु, रसना इत्यादि बाह्य विषयो के साधनभूत बाह्यकरण है, मन की तरह सुखदु खादि अन्तरिक विषयो की प्राप्ति के साधन-भूत अन्त.करण या अन्तरिन्द्रिय नही है।

प्रत्येक जीवात्मा मे होने वाले सुखदुःखानुभव मे करणरूप से मन का रहना नियत अर्थात् आवश्यक है। जीव अनन्त हैं, अतः उनमे से प्रत्येक के साथ नियत मन भी अनन्त—असङ्ख्य—है। ये परमाणुओ की तरह परमसूक्ष्म अर्थात् निरवयव होते हैं, इसीलिये परमाणुरूप पृथिवी इत्यादि की भाँति नित्य होते हैं।

॥ द्रव्य-निरूपण समाप्त ॥

अथ गुणलक्षण-प्रकरणम्

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्लनीलपीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्रभेदात् सप्तविधम्। पृथ्वीजलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्ल तेजसि।

अर्थ—केवल चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाला गुण 'रूप' है। वह शुक्ल (सफेद), नील (नीला, काला), पीत (पीला), रक्त (लाल), हरित (हरा), कपिश (कृष्ण-पीत) और चित्र (चितकबरा) के भेद से सात प्रकार का होता है। यह रूप पृथिवी, जल तथा तेजस् द्रव्यो मे रहता है। इनमे से पृथिवी मे पूर्वोक्त सातो रूप रहते है। न चमकने वाला श्वेत रूप जल मे, और चमकीला श्वेत रूप तेजस् मे रहता है।

विशेष—(i) 'रूप' के उपर्युक्त लक्षण के साधुत्व की परीक्षा वाञ्छनीयँ है। इसे अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषो से शून्य होना चाहिये। लक्षण में 'चक्षु' पद देने से रसगन्धादि गुणो मे इसकी अतिव्याप्ति नही हुई। एवं 'गुण' पद देने से 'रूपत्व' जाति तथा त्र्यणुक मे इसकी अतिव्याप्ति नही हुई। ऐसा न करने पर लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होता। क्योकि 'येन इन्द्रियेण यद् द्रव्यगुणादि गृह्यते, तेनैव तद्‌गता जातिरपि गृह्यते' अर्थात् द्रव्य गुण इत्यादि मे रहने वाली जाति उसी इन्द्रिय से गृहीत होती है, जिससे वे स्वयं गृहीत होते हैं, इस नियम के अनुसार रूप मे रहने वाली 'रूपत्व' जाति भी उसी की भाँति चक्षुर्मात्र-गाह्य होने से 'रूप' होने लगेगी जो अनिष्ट है। किन्तु 'गुण' कह देने से यह अनिष्ट, यह अतिव्याप्ति दोष नही होगा, क्योकि 'चक्षु-र्मात्रग्राह्यो गुणः' लक्षण करने से जाति होने से 'रूपत्व' मे उसकी अति-व्याप्ति नही होगी। इसी प्रकार 'त्र्यणुक' के चक्षुर्ग्राह्य होने पर भी उसके गुण न होने अर्थात् द्रव्य होने से इस लक्षण की उसमे अतिव्याप्ति नही होगी। दो परमाणुओ से बनने वाले 'द्व्यणुक' और परमाणु, दोनों अणु परिमाण वाले होने के कारण चक्षुर्ग्राह्य नही होते, किन्तु तीन द्व्यणुकों से बनने वाला 'त्र्यणुक' महत् परिमाण वाला होने से चक्षुर्ग्राह्य या दृश्य होता है, ऐसी मान्यता न्याय दर्शन की है। ऐसी स्थिति मे लक्षण मे 'गुण' पद का समावेश न करने से 'त्र्यणुक' मे, जो गुण नही अपितु द्रव्य है, इसकी अतिव्याप्ति होने लगेगी। 'गुण' का समावेश कर देने से अतिव्यप्ति की निवृत्ति हो जाती है।

लक्षण मे 'गुण' पद की ही भाँति 'मात्र' पद भी सार्थक है, क्योकि उसके अभाव मे चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होने वाले जल-निष्ठ सासिद्धिक द्रवत्व नामक विशेष गुण मे उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी किन्तु 'मात्र' पद दे देने से इसकी निवृत्ति हो जायगी क्योकि यह सासिद्धिक द्रवत्व चक्षु के अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय द्वारा (किये गये स्पर्श से) भी गृहीत हो जाता है। 'मात्र' के प्रयोग से सांसिद्धिक द्रवत्व मे रूप के लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती। 'गुण' से प्रस्तुत प्रसङ्ग मे 'विशेष गुण' की विवक्षा होने से, चक्षु से गृहीत होने वाले सख्या आदि सामान्य गुणो मे रूप के लक्षण की अतिव्याप्ति स्वतः ही निवृत्त हो जाती है।

किन्तु इस लक्षण मे अव्याप्ति दोष आता है क्योकि परमाणुओ एव द्व्यणुको के अदृश्य अर्थात् चक्षुर्गाह्य न होने से तन्निष्ठ रूप भी चक्षुर्ग्राह्य नही होते। इस

प्रकार रूप का यह लक्षण अणुओ एव द्व्यणुको के रूप मे व्याप्त नही हो पाता। एव वह अव्याप्ति दोष से दूषित है। इस अव्याप्ति की निवृत्ति या परिहार के लिये प्रस्तुत लक्षण का परिष्कार इस प्रकार कर दिया जाना चाहिये—'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान् गुणो रूपम्' अर्थात् चक्षुर्मात्र से ग्राह्य जो 'रूपत्व' जाति, उस जाति से युक्त जो गुण, उसे रूप कहते है। इस प्रकार इस परिष्कृत लक्षण से रूप-मात्र का ग्रहण हो जाता है, एव परमाणु तथा द्व्यणुक के रूप मे भी इसकी व्याप्ति हो जाती है। इस प्रकार मूल मे प्रदत्त लक्षण की इन दोनो के रूप मे होने वाली अव्याप्ति दूर हो जाती है।

(ii) मूल मे आये 'कपिश' शब्द का अर्थ है कृष्णपीत जिसे अँग्रेजी मे tawny कहते हैं। जैसे, केश जटा मे परिवर्तित होने पर कृष्णता के साथ पीतता से भी युक्त हो जाते है। इसी मिश्रित कृष्ण-पीत रूप को 'कपिश' कहा जाता है। 'पिङ्ग', 'पिङ्गल' तथा 'पिशङ्ग' इसके अन्य पर्याय है।

रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्त-भेदात् षड्विधः। पृथिवीजलमात्रवृत्तिः। तत्र पृथिव्या षड्विधः। जले मधुर एव।

अर्थ—रसना इन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण 'रस' है। मीठा, खट्टा, नमकीन, कडवा, कसैला तथा तीत (तीखा) के भेद से यह छ: प्रकार का होता है। यह रस केवल पृथिवी एव जल द्रव्यो मे रहता है। इनमे पृथिवी मे छहो रस पाये जाते है, किन्तु जल मे केवल मधुर अर्थात् मीठा ही पाया जाता है।

विशेष—'रसना' पद का 'रस' के लक्षण मे समावेश करने से इसकी रूप, शब्द आदि गुणो मे अतिव्याप्ति नही होती क्योकि रस के अतिरिक्त अन्य कोई गुण रसनेन्द्रिय से गृहीत नही होता। पूर्ववत् 'गुण' पद का लक्षण मे समावेश करने से 'रसत्व' मे इसकी अतिव्याप्ति नही होती क्योकि 'रसत्व' जाति है, गुण नही।

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः, सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवी-मात्रवृत्तिः।

अर्थ—घ्राण से ग्रहण किया जाने वाला गुण 'गन्ध' है। वह दो प्रकार का होता है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। 'गन्ध' केवल पृथिवी द्रव्य मे पाया जाता है।

विशेष—(i) पूर्ववत् 'घ्राण' पद का 'गन्ध' के लक्षण मे समावेश करने से इसकी गन्धेतर रूप रसादि गुणो मे अतिव्याप्ति नही होती । पुनश्च 'गुण' पद के समावेश से इसकी 'गन्धत्व' मे अतिव्याप्ति नही होती । क्योकि गन्धत्व जाति है, गुण नही ।

(ii) 'गन्धः पृथिवीमात्रवृत्ति.' इसलिये कहा गया क्योकि अन्वय अर्थात् जहाँ-जहाँ गन्ध होगा वहाँ-वहाँ पृथिवी का सम्बन्ध अवश्य होगा, एवं व्यतिरेक अर्थात् जहाँ पर पृथ्वी का सम्बन्ध नही होगा वहाँ पर गन्ध भी नही होगा, से गन्ध पृथ्वी से ही सम्बद्ध प्राप्त होता है, उससे पृथक् नही । इसी से 'गन्धवती पृथिवी' ऐसा पृथिवी का लक्षण किया जाता है । जल, वायु आदि मे जो गन्ध प्राप्त होता है, वह पृथिवी के सम्बन्ध से ही । पृथिवी के विकारभूत कमल, केतकी (केवडा) आदि पुष्पो के संसर्ग से जल मे भी पृथिवी का गुण गन्ध (सुरभि) आ जाता है । इसी प्रकार पुष्पो के सम्पर्क से वायु सुगन्ध-युक्त हो जाता है । वर्षा के जल से सिक्त तप्त पृथिवी से उठी सोधी महक से तात्कालिक वायु भी सोधी महक से युक्त हो जाता है ।

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः । स च त्रिविधः, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् । पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः । तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। /

अर्थ—त्वगिन्द्रिय-मात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण 'स्पर्श' है । यह तीन प्रकार का होता है –शीत, उष्ण एवं अनुष्णाशीत अर्थात् न गर्म और न ठण्डा । इनमे शीत-स्पर्श जल का है, उष्ण-स्पर्श तेजस् (अग्नि, सूर्य आदि) का, तथा अनुष्णाशीत स्पर्श पृथ्वी एवं वायु का ।

विशेष—प्रथम पक्ति मे 'स्पर्श' का लक्षण दिया गया है—'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यत्वे सति गुणत्व स्पर्शत्वम्' । पूर्ववत् 'गुण' पद का समावेश 'स्पर्शत्व' जाति मे होने वाली इसकी अतिव्याप्ति की निवृत्ति या परिहार के लिये किया गया है । 'त्वगिन्द्रिय' का ग्रहण रूप-रसादि मे इसकी अतिव्याप्ति रोकने के लिये किया गया है क्योकि इन्द्रिय-ग्राह्य गुण तो रूप, रस, गन्ध सभी हैं किन्तु त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य गुण केवल 'स्पर्श' है । सख्या आदि सामान्य गुणो मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति दूर करने के लिये मात्र' पद का समावेश किया गया है । सख्या त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य जरूर है किन्तु चक्षुरिन्द्रियग्राह्य भी है

क्योंकि हाथ (केत्वक्) के स्पर्श से तो वह ज्ञात होती ही है, इसके अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय से भी ज्ञात होती है। 'मात्र' के समावेश से लक्षण शुद्ध हो जाता है क्योकि तब 'सख्या' मे उसकी अतिव्याप्ति नही होती।

रूपादिचतुष्टय पृथिव्यां पाकजमनित्यं च। अन्यत्रापाकज नित्य-मनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्।

अर्थ—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पृथिवी मे पाक से उत्पन्न एव अनित्य होते है। पृथिवी से भिन्न जलादि आश्रयो मे ये अपाकज होते है, एव नित्य और अनित्य, दोनो ही प्रकार के होते है। नित्य परमाणु के रूप आदि नित्य हैं, किन्तु अनित्य (द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से उत्पन्न होने वाले महाभूत पृथिवी, जल इत्यादि) कार्य द्रव्यो मे रहने वाले रूप आदि अनित्य है।

विशेष—पृथिवी के साथ उससे विजातीय द्रव्य तेजस् के सयोग को 'पाक' कहते है। मिट्टी का कच्चा घडा भूरे रङ्ग का तथा चिकना होता है। आवे मे आग से पक जाने पर वही लाल रङ्ग का तथा स्पर्श मे कुछ कर्कश (खुरदरा) हो जाता है। (पाक से) उत्पन्न होने से यह नया रूप तथा स्पर्श अनित्य है। इसके गन्ध और रस भी पूर्वतः भिन्न हो जाते है। कच्चे घडे की अपेक्षा नये पके घडे का स्वाद कुछ विचित्र ही होता है। गन्ध भी सोधापन लिये होता है। जल को कितना भी तपाया जाय, उसका अभास्वर शुक्ल रूप तथा मधुर रस ज्यो का त्यो ही रहता है। इसी से इन्हे अपाकज कहा गया है। उसका स्वाभाविक स्पर्श शीत ही होता है, जैसे तेजस् का उष्ण। किन्तु तेजस् के संयोग से वह उष्ण-स्पर्श हो जाता है। पृथिवी तथा वायु मे न शीत स्पर्श है और न ही उष्ण स्पर्श किन्तु जल तथा तेजस् के संयोग से वे क्रमशः शीत तथा उष्ण हो जाते है। गन्ध पृथिवी मे ही सहज रूप से होता है, शेष तीनो मे नही। हाँ, जल तथा वायु मे यह औपाधिक होता है किन्तु यह पाकज नही होता।

एकत्वादिव्यवहारसाधारणहेतुः सख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः, एक-त्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्, अनि-त्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।

अर्थ—एक, दो आदि व्यवहार के असाधारण हेतु-भूत गुण को 'सङ्ख्या' कहते हैं। वह पृथ्वी से लेकर मनस् पर्यन्त नवो द्रव्यो मे रहती है तथा एक

से लेकर परार्ध तक है। नित्य तथा अनित्य के भेद से 'एक' संख्या दो प्रकार की होती है। नित्य (द्रव्य) परमाणुओ मे रहने वाली नित्य, एव उनके कार्य-भूत द्व्यणुकादि से लेकर महाभूत पृथिवी आदि तथा वृक्ष-घटादि द्रव्यो मे रहने वाली अनित्य। द्वित्व अर्थात् दो, तीन, चार इत्यादि सख्याये तो सर्वत्र अर्थात् नित्य तथा अनित्य सभी द्रव्यो मे अनित्य ही है।

विशेष—(i) एक से परार्ध-पर्यन्त संख्याओ का विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है—

एकं दश शतं चैव, सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव, कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च, शङ्खः पद्मश्च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च, दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥

अर्थात् एक, दस्, शत (सौ), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), नियुत (दस लाख), कोटि (करोड), अर्बुद (दस करोड), वृन्द (अरब), खर्व (दस अरब), निखर्व (दस खर्व), शङ्ख (दस निखर्व), पद्म (दस शंख), सागर (दस पद्म), अन्त्य (दस सागर), मध्य (दस अन्त्य) तथा परार्ध (दस मध्य)—ये संख्याये दसगुनी वृद्धि से जाननी चाहिये।

(ii) 'सख्या' का जो लक्षण ऊपर दिया गया है, वह सर्वथा साधु—अतिव्याप्ति-अव्याप्ति आदि दोषो से रहित है। किन्ही-किन्ही संस्करणो मे इस लक्षण मे 'असाधारण' पद छोड दिया गया है। जैसे, चौखम्भा से प्रकाशित आचार्य शेषराजरेग्मी की व्याख्या के साथ छपे 'तर्कसङ्ग्रह' मे। इसी से लक्षण मे होने वाले अतिव्याप्ति दोष के परिहारार्थ उन्हे 'असाधारण' पद जोडकर लक्षण का परिष्कार करना पडा। उनका लेख इस प्रकार है—"एकत्व आदि व्यवहार के साधारण कारण काल आदि मे अतिव्याप्ति हटाने के लिये 'असाधारण' पद भी देना चाहिये। तब 'एकत्वादिव्यवहारस्य असाधारणकारणत्वं सङ्ख्यात्वम्' अर्थात् एकत्व आदि के असाधारण कारण को 'संख्या' कहना चाहिये, ऐसा लक्षण हुआ।" वस्तुतः न्यायशास्त्र मे काल, देश आदि भी 'एक, दो, तीन' इत्यादि व्यवहार के कारण माने जाते है। ये साधारण कारण है। 'सख्या' इन व्यवहारो का असाधारण अर्थात् विशिष्ट कारण है। इससे यही इसका शुद्ध लक्षण है।

(iii) पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु के परमाणु नित्य द्रव्य है। इनके अतिरिक्त आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस् भी नित्य है। इन नित्य द्रव्यो मे रहने वाली 'एक' संख्या नित्य है, क्योकि इसके आश्रय परमाणु आदि नित्य हैं। अनित्य पृथिवी, जल आदि तथा घट-वृक्षादि मे रहने वाली 'एक' सख्या अनित्य हैं क्योंकि इसके आश्रय अनित्य हैं। दो, तीन आदि सख्याये तो सर्वत्र ही अनित्य है क्योकि ये मनुष्य की अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है। 'यह एक घट है, यह एक घट है', इस प्रकार ये दो घट हैं। इस प्रकार की बुद्धि अपेक्षा-बुद्धि कही जाती है। इसी से सारी दो, तीन इत्यादि सख्याये उत्पन्न होती है। अतएव ये नित्यानित्य, उभयविध आश्रयो मे अनित्य ही होती हैं।

मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम्, नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्—अणु, महत्, दीर्घं ह्रस्वं चेति।

अर्थ—मान (नाप-तौल, माप) के व्यवहार के असाधारण कारण को कहते हैं। वह नव द्रव्यो मे रहता है। अणु (छोटा), महत् (बडा), दीर्घ (लम्बा), ह्रस्व (नाटा)—ये परिमाण के चार भेद हैं।

विशेष—(1) छोटा, बडा इत्यादि व्यवहार का असाधारण कारण दण्ड आदि भी है, उसमे अतिव्याप्ति को हटाने के लिये लक्षण मे 'मान' पद दिया गया है। इसी प्रकार इस व्यवहार के साधारण कारण काल इत्यादि मे होने वाली अतिव्याप्ति को हटाने के लिये 'असाधारण' पद दिया गया है।

(ii) परिमाण चार प्रकार का होकर, फिर 'परम' तथा 'मध्यम' के भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे, परमाणु और मन मे परम अणुत्व तथा परम ह्रस्वत्व रहते हैं, द्व्यणुक मे मध्यम अणुत्व तथा मध्यम ह्रस्वत्व रहते हैं, तथा आकाश, आदि मे परम महत्त्व एव परम दीर्घत्व रहते हैं।

पृथग्व्यवहारासाधारणकारण पृथक्त्वम्। सर्वद्रव्यवृत्ति।

अर्थ—अमुक वस्तु अमुक से पृथक् है, ऐसा जो व्यवहार है, उसके असाधारण कारण को 'पृथक्त्व' कहते है। वह सभी द्रव्यो मे रहता है।

विशेष—पृथग्व्यवहार का असाधारण कारण दण्डादि भी है, उसमे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये लक्षण मे 'पृथक्' पद दिया गया है। इसका साधारण

कारण कालादि भी है, उसमे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'असाधारण' पद दिया गया है। 'पृथग्व्यवहारत्व' जाति मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'कारण' पद दिया गया है।

संयुक्तव्यवहारासाधारणो हेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अर्थ—यह वस्तु इससे सयुक्त है, इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारण को सयोग कहते है। यह सभी द्रव्यो मे रहता है।

विशेष—पूर्ववत् दण्डादि असाधारण कारण मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'सयुक्तव्यवहार' पद, तथा कालादि साधारण कारण मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'असाधारण' पद दिया गया है। 'सयुक्तव्यवहारत्व' जाति मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'हेतुः' पद दिया गया है।

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अर्थ—सयोग के नाशक गुण को 'विभाग' कहते हैं। यह सभी द्रव्यो मे रहता है।

विशेष—संयोग का नाशक काल भी है, अतः उसमे अतिव्याप्ति हटाने के लिये 'गुण' पद दिया गया है। संयोग के नाश में ईश्वरेच्छा भी कारण है, अतः उसमे अतिव्याप्ति हटाने के लिये लक्षण मे 'असाधारण' पद देना चाहिये। कार्य-मात्र के प्रति ईश्वरेच्छा आदि साधारण कारण हैं।

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोवृत्तिनी। ते द्विविधे–दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्-कृतं परत्वम्, समीपस्थे दिक्-कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्, कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

अर्थ—पर-व्यवहार के असाधारण कारण को 'परत्व' तथा अपरव्यवहार के असाधारण कारण को 'अपरत्व' कहते है। ये पृथिवी, जल, तेजस् और वायु, इन चार तथा मन मे रहते हैं। ये दोनो दो प्रकार के है—दिक्-कृत अर्थात् दिशा (या देश) से उत्पन्न तथा काल-कृत अर्थात् काल से उत्पन्न। दूर-स्थित पदार्थ मे दिक्-कृत 'परत्व' और समीपस्थ पदार्थ मे दिक्-कृत 'अपरत्व' रहता है। इसी तरह ज्येष्ठ मे काल-कृत 'परत्व' तथा कनिष्ठ मे काल-कृत 'अपरत्व' रहता है।

विशेष—(i) प्रयाग से पटना दूर है किन्तु काशी उसकी अपेक्षा प्रयाग के समीप है—यह दिक्-कृत अर्थात् देश-कृत परत्व और अपरत्व का उदाहरण है। यह दूरी तथा समीपता का व्यवहार बीच के देश या स्थान के क्रमशः अधिक तथा कम होने के कारण होता है। इसी प्रकार, राम और श्याम मे राम 'पर' या ज्येष्ठ (बडा) तथा श्याम 'अपर' या कनिष्ठ (छोटा) है, इस परत्व तथा अपरत्व के व्यवहार का कारण काल-कृत है। क्योकि यह व्यवहार तभी होगा जब श्याम के जन्म-काल से आज तक का समय श्याम के समय की अपेक्षा अधिक होगा। यह 'परत्वापरत्व' अर्थात् ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार काल-कृत है।

(ii) दण्ड घट का असाधारण कारण है, अतः उसमे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये लक्षण मे 'परव्यवहार' पद दिया गया है। दण्ड 'परव्यवहार' का असाधारण कारण नही है। आकाश काल आदि समस्त कार्यों के साधारण कारण होते है। अत: उनमे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये लक्षण मे 'असाधारण' पद दिया गया। 'परव्यवहारत्व' तथा 'अपरव्यवहारत्व' जातियों मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये लक्षण मे 'कारण' पद दिया गया।

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

अर्थ—सर्व-प्रथम अर्थात् पहले पतन के असमवायिकारण गुण को 'गुरुत्व' कहते है। यह पृथिवी तथा जल मे रहता है।

विशेष—(i) 'गुरु' का अर्थ है भारी। 'गुरुत्व' का अर्थ हुआ बोझ या भार। पृथिवी तथा जल मे ही गुरुत्व अर्थात् भार होता है। उनके अतिरिक्त तेजस्, वायु, आकाश, काल आदि मे गुरुत्व नही होता।

(ii) किसी भी वस्तु का पृथिवी पर पतन गुरुत्व के ही कारण होता है। यह गुरुत्व इस पतन मे असमवायिकारण[१] है। गुरुत्व के कारण एक बार पतन आरम्भ हो जाने पर उसके बाद (वस्तु के पृथ्वी या उसके विकारभूत किसी अन्य वस्तु पर अन्ततः गिर जाने तक) का सारा द्वितीयादि पतन 'वेग' नामक असमवायिकारण से होता है। अतएव उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति

---

१. समवायि, असमवायि तथा निमित्त—ये तीन तरह के कारण होते है। इनके लक्षण तथा उदाहरण प्रसङ्गतः आगे दिये जायँगे।

दूर करने के लिये 'आद्य' पद दिया गया। आदिम अर्थात् सर्व-प्रथम पतन का आरम्भ वेग से नही अपितु वस्तु मे रहने वाले इसी 'गुरुत्व' गुण के कारण होता है। फल इत्यादि के गिरने मे वह स्वयं समवायिकारण है, द्रव्य होने से उसी मे उसका 'गुरुत्व' गुण रहता है। दण्डादि से फल इत्यादि गिराने में वह दण्ड निमित्त कारण बनता है। इन सब मे लक्षण की अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'असमवायि' पद दिया गया।

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद् द्विविधं, सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवी-तेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वम्, तेजसि सुवर्णादौ।

अर्थ—सर्व-प्रथम स्यन्दन (प्रवाह) के असमवायिकारण को द्रवत्व कहते है। यह पृथिवी, जल तथा तेजस् द्रव्यो मे रहता है। यह दो प्रकार का होता है—सासिद्धिक अर्थात् स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) तथा नैमित्तिक अर्थात् कारण-जन्य। सासिद्धिक द्रवत्व जल मे, तथा नैमित्तिक (कृत्रिम) पृथिवी तथा तेजस् द्रव्यो मे रहता है। पृथिवी जैसे घृत इत्यादि मे, तथा तेजस् जैसे सुवर्ण इत्यादि मे अग्नि के सयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है।

विशेष—(i) घृत, जतु (लाख) इत्यादि पृथ्वी के कार्य होने से उसके द्वारा गृहीत है। इसी प्रकार सुवर्ण, चाँदी इत्यादि खनिज धातुये तेजस् द्रव्य के कार्य होने से उसके द्वारा गृहीत है।

(ii) द्रवत्व के लक्षण का पदकृत्य गुरुत्व के लक्षण के पदकृत्य-जैसा ही है।

[1]चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

अर्थ—चूर्ण है आदि जिसका, उस मृतिका इत्यादि के पिण्डत्व (अर्थात् पिण्ड होने या बनने) के निमित्तकारण-भूत गुण को स्नेह कहते है। यह केवल जल मे रहता है।

विशेष—लोह इत्यादि के पिण्डभाव मे हेतुभूत अग्निसंयोग मे होने वाली अतिव्याप्ति के परिहार के लिये लक्षण मे 'चूर्ण' पद दिया गया है। काल

---

१. चूर्णं पिष्ट, तदेवादिर्यस्य (मृत्तिकादेः,) स चूर्णादिः।

इत्यादि मे अतिव्याप्ति के परिहार के लिये 'गुण' पद दिया गया है। रूपादि मे अतिव्याप्ति के परिहार के लिये 'पिण्डीभाव' पद दिया गया है।

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः, ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

अर्थ—श्रोत्र अर्थात् कर्णेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को 'शब्द' कहते है। वह आकाश का विशेष गुण होने से केवल उसी मे रहता है। ध्वनि एव वर्ण रूप से वह दो प्रकार का होता है। ध्वनि-रूप शब्द भेरी आदि वाद्यों से उत्पन्न होता है, एव वर्ण-रूप शब्द (वाक्तन्त्री से उत्पन्न) संस्कृतभाषा आदि के प्रकार का होता है।

विशेष—(i) शब्द की ही भाँति शब्दत्व जाति भी श्रोत्रेन्द्रिय से ही गृहीत होती है, अतः उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'गुण' पद दिया गया है। 'शब्दत्व' जाति है, गुण नही। 'श्रोत्र' के ग्रहण से श्रोत्रेतर इन्द्रियो से ग्राह्य रूप, रस, गन्धादि मे अतिव्याप्ति दूर कर दी गई। वस्तुतः तो श्रोत्रदेश मे उत्पन्न शब्द ही श्रोत्रग्राह्य है, उससे भिन्न अन्यत्र उत्पन्न शब्द नही। अतः उसमे 'श्रोत्रग्राह्यत्व' रूप लक्षणांश की अव्याप्ति को दूर करने के लिये 'श्रोत्रग्राह्यजातिमत्त्व शब्दत्वम्' ऐसा परिष्कृत लक्षण किया जाना चाहिये। श्रोत्र से गृहीत होने वाली जो शब्दत्व रूप जाति, वह जिसमे रहती है, उसे 'शब्द' कहते है। ऐसा लक्षण करने से श्रोत्रदेशीय शब्द एव तदितरदेशीय शब्द, सभी का ग्रहण हो जायगा, अव्याप्ति नही रहेगी।

श्रोत्र-देश से भिन्न देश मे उत्पन्न शब्द के सम्बन्ध मे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि यदि यह श्रोत्रग्राह्य नही है, तब क्या यह अश्रुत ही रहता है? यदि हाँ, तो फिर सुनाई क्या पडता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भेरी आदि के देश मे उत्पन्न शब्द पवन द्वारा वीचीतरङ्गन्याय से अथवा कदम्बमुकुलन्याय से श्रोतृ-देशस्थ कर्ण-रन्ध्र तक पहुँचाया जाता है। वस्तुतः कर्णरन्ध्र तक पहुँचने वाला शब्द मूल या प्रथम शब्द न होकर उससे उत्पन्न दूसरा, उससे तीसरा, उससे चौथा, और इसी क्रम मे अन्ततः कर्ण-देश मे उत्पन्न अन्त्य शब्द होता है। वही कर्णेन्द्रिय द्वारा समवाय सम्बन्ध से गृहीत होता है। शब्द और आकाश का समवाय सम्बन्ध होता है और कर्णेन्द्रिय तो वस्तुतः कर्ण-

शष्कुलि से अवच्छिन्न आकाश ही है । भेरी-दण्ड और मृदङ्गादि के शब्द, अथवा वनोद्देश आदि मे होने वाले सिंह-गर्जन आदि के कर्णदेश तक पहुँचकर सुने जाने मे प्रयुक्त प्रक्रिया के बोध के लिये ही नैयायिक वीचीतरङ्ग-न्याय अथवा कदम्बमुकुलन्याय का निर्देश करते है । जलाशय के मध्य मे फेके गये पत्थर से उत्पन्न प्रथम वीची तट तक नही जाती अपितु वह दूसरी (अपने कम विस्तार वाली) तरङ्ग को जन्म देती है । वह तरङ्ग तीसरी को, तीसरी चौथी को एव इसी क्रम मे सबसे अन्त मे उत्पन्न लघुतम तरङ्ग उत्पन्न होकर तट तक पहुँचती है । यही प्रणाली शब्द-तरङ्गो के भी कर्ण-देश तक पहुँचने की है ।

कदम्बमुकुल-न्याय यह है कि जैसे प्रथमतः बीजकोश के सभी ओर छोटी-छोटी अनेक पंखडियाँ वृत्ताकार मे विकसित होती हैं, फिर उन पखडियो से अग्रिम पक्ति की पंखडियाँ विकसित होती है, और इसी क्रम से अग्रिम पक्तियो मे पखडियो का विकास होता रहता है, इसी प्रकार प्रथम शब्द से सभी ओर अनेक शब्दो की पक्ति उत्पन्न होती है । फिर इस पक्ति के शब्दो से उत्तरोत्तर शब्दो की पक्तियाँ उत्पन्न होती जाती है, और अन्ततः श्रोत्र के देश मे उत्पन्न शब्द उसके द्वारा सुना जाता है ।

(ii) यह शब्द तीन प्रकार का होता है—(१) सयोगज (२) विभागज (३) शब्दज । भेरी और दण्ड के सयोग से उत्पन्न झङ्कार, अथवा करतलो के सयोग से उत्पन्न तडतडा शब्द सयोगज होने से प्रथम का उदाहरण है । बाँस के दो दलो अथवा भागो के फाडे जाने से उत्पन्न पटपट शब्द विभागज होने से द्वितीय का उदाहरण है । पूर्व वर्णित वीचीतरङ्गन्याय अथवा कदम्बमुकुल-न्याय से कर्णरन्ध्र तक प्राप्त होकर सुना जाने वाला शब्द शब्दज होने से तृतीय का उदाहरण है । इसमे पूर्व-पूर्व शब्द उत्तरोत्तर शब्द को उत्पन्न करता है, उसकी उत्पत्ति मे कारण बनता है ।

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्[1] । सा द्विविधा, स्मृतिरनुभवश्च ।

अर्थ—समस्त व्यवहारो के कारणभूत गुण को 'बुद्धि' अर्थात् ज्ञान कहते हैं । वह दो प्रकार की होती है—स्मृति तथा अनुभव ।

विशेष—(i) यहाँ 'हेतु' से 'असाधारण हेतु या कारण' तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये ताकि समस्त कार्यों मे साधारणतः कारण होने वाले काल,

१. 'सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः' इति पाठान्तरम् ।

ईश्वरेच्छा, आकाशादि मे लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। अथवा यदि इसका अर्थ 'कारण' मात्र लिया जाय तो फिर अतिव्याप्ति के परिहार के लिये लक्षण मे 'असाधारण' पद दिया जाना चाहिये। 'व्यवहारहेतु' कहने से दण्ड आदि मे अतिव्याप्ति होती, अतएव 'सर्वव्यवहारहेतु' ऐसा कथन किया गया। इससे आहार-विहारादि समस्त व्यवहारो का कारणभूत बुद्धि ही गृहीत होती है, अन्य कुछ नही।

(11) बुद्धि को ज्ञान या उपलब्धि भी कहते है, जैसा कि न्यायसूत्र १ १. १७—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' से स्पष्ट है। 'अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, अविद्यमानमर्थान्तर यस्य तदनर्थान्तरं (पदम्) पर्याय इत्यर्थः।' इस प्रकार बुद्धि, उपलब्धि एव ज्ञान, तीनो पर्याय है। तार्किकरक्षाकार ने 'बुद्धिरर्थप्रकाशनम्' ऐसा कहा है। पदार्थ या वस्तु का प्रकाशन ही बुद्धि या ज्ञान है। इसके बिना शब्द का व्यवहार या प्रयोग असम्भव है। इसी से शब्दप्रयोगरूप व्यवहार के हेतु अर्थात् विशिष्ट कारण को बुद्धि कहा गया है, एवं उसके पर्याय रूप से 'ज्ञान' का ग्रहण किया गया है।

gmp. **संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।**

अर्थ—सस्कार-मात्र से उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' कहते है।

विशेष—(1) संस्कार-जन्य तो सस्कार का ध्वंस अर्थात् विनाश भी है, अतः उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'ज्ञान' पद दिया गया है। ज्ञान तो 'अनुभव' भी है, अतः उसमे अतिव्याप्ति हटाने के लिये 'सस्कार-जन्य' पद दिया गया। अनुभव और स्मृति, दोनो ही ज्ञान है, किन्तु अनुभव संस्कार का जनक है (अनुभव से ही मन मे सस्कार उत्पन्न होता है), उससे जन्य नही। जबकि इसके विपरीत 'स्मृति' सस्कार-जन्य होती है—'अनभव-जन्यः सस्कारस्तज्जन्या स्मृतिः' यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

ऐसा होने पर भी 'प्रत्यभिज्ञा' मे लक्षण की अतिव्याप्ति होती, अतः उसे रोकने के लिये 'मात्र' पद और जोडा गया। स्मृति और अनुभव से युक्त ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। जैसे, 'सोऽय देवदत्तः' वाक्य से प्रकाशित प्रत्यभिज्ञा-रूप ज्ञान 'सः' अश मे स्मृति है, और 'अयम्' अश मे अनुभव है। इस प्रकार यह ज्ञान सस्कारमात्र-जन्य न होकर चक्षुरिन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्य भी है—स्मृत्यश मे सस्कार-जन्य एव अनुभवाश मे चक्षुरिन्द्रियार्थ-जन्य।

(11) यहाँ एक शङ्का होती है और यह कि कार्य-मात्र के प्रति साधारण कारण होने से कालादि ज्ञान के प्रति भी कारण होगा ही, क्योकि वह भी तो कार्य ही है। ऐसी स्थिति मे कोई भी ज्ञान सस्कारमात्र-जन्य नही हो सकता, और स्मृति भी ज्ञान का एक प्रकार या भेद होने से संस्कारमात्र-जन्य नही हो सकती। फिर तो लक्षण असम्भवदोष से दूषित होगा। इसे दूर करने के लिये 'सस्कारमात्र-जन्य' पद मे 'मात्र' का अर्थ 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षा-जन्य' अर्थात् 'सस्कार-जन्य तो हो परन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्य न हो'—ऐसा किया जाना चाहिये। दूसरे शब्दो मे इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि लक्षणकार के द्वारा लक्षण मे 'मात्र' पद का प्रयोग इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्यत्व के निषेध या परिहार के लिये है, न कि सर्वकार्यों के साधारण कारण कालादि के निषेध के लिये।

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः—यथार्थोऽयथार्थश्च।

अर्थ—स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते है। यह दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ।

विशेष—पिछले 'विशेष' से यह बात सुस्पष्ट हो चुकी है कि अनुभव-जन्य संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है, अर्थात् स्मृति सस्कार का कार्य है और वह सस्कार स्वयं अनुभव का। संस्कार स्मृति का तो जनक है परन्तु अनुभव का जनक नही अपितु जन्य है। इस प्रकार 'अनुभव' ज्ञान का 'स्मृति' ज्ञान से भिन्न होना सुस्पष्ट है।

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैव प्रमोच्यते।

अर्थ—'तत्' पद से ग्राह्य है किसी पदार्थ-विशेष मे रहने वाला स्वरूपाधायक धर्म। तद्वान् अर्थात् उससे युक्त वह पदार्थ ही हुआ। उसमे उस धर्म या प्रकार (अर्थात् विशेषण) वाला अनुभवात्मक ज्ञान 'यथार्थ' हुआ। जैसे, रजत (चाँदी) मे 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान। इसे ही प्रमा कहा जाता है।

विशेष—रजत के विषय मे 'इद रजतम्' ज्ञान यथार्थानुभव है। इस रजत मे रहने वाला धर्म रजतत्व है। तद्वान् अर्थात् उससे युक्त पदार्थ रजत ही हुआ।

उस रजत मे 'तत्प्रकारक'[1] अर्थात् रजतत्व प्रकार (विशेषण) वाला ज्ञान 'इद रजतम्' हुआ। इस प्रकार रजत पदार्थ के सम्बन्ध मे 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान या अनुभव है।

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैवाप्रमेत्युच्यते।

अर्थ—जिसमे जो नही है, उसमे उसका अनुभव अयथार्थ अनुभव है। जैसे, सीपी मे 'यह रजत है' यह ज्ञान। यही अप्रमा है।

विशेष—सीपी मे रजत की सी चमक है, इससे वह रजत सी प्रतीत होती है पर वह रजत नही, वह तो सीपी है। उस सीपी मे रजतत्व धर्म का अभाव है। उस रजतत्वाभाव वाली सीपी मे रजतत्व-प्रकारक 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान अयथार्थ अनुभव है। यही अप्रमा है।

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः, प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशब्दभेदात्।

अर्थ—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शब्द के भेद से यथार्थानुभव अर्थात् प्रमा चार प्रकार की होती है।

विशेष—केवल प्रत्यक्ष ही यथार्थानुभव या प्रमा है, यह चार्वाको की मान्यता है। अनुमिति भी प्रमा है, यह वैशेषिको एव बौद्धो की मान्यता है। सांख्य दार्शनिक तथा नैयायिक शब्द को भी प्रमा मानते हैं। कुछ को छोडकर अधिकाशतः नैयायिक उपमिति को भी प्रमा मानते है। अन्नम्भट्ट नैयायिक है। अतः उनके प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कसङ्ग्रह' मे न्यायानुसार ये ही चार प्रमाये बताई गईं।

इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी प्रमा मानने वाले प्राभाकर मीमासक हैं। कुमारिलभट्ट के अनुयायी भाट्ट मीमासक तथा वेदान्ती अनुपलब्धि को भी प्रमा मानते है। पौराणिकों के मत से सम्भव और ऐतिह्य भी यथार्थ अनुभव है। इन प्रमाओ के कारण (असाधारण कारण) रूप से ये उपर्युक्त दार्शनिक क्रमश प्रत्यक्ष (१), प्रत्यक्ष तथा अनुमान (२), प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (३), प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द (४), प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्ति (५), प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धि (६), तथा प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा-

---

१ तत् रजतत्व प्रकारो विशेषणं यस्मिन् स. तत्प्रकारकः (अनुभवः)। अर्थात् रजतत्वधर्मवति रजते रजतत्वप्रकारकोऽनुभवो यथार्थानुभव इत्युच्यते।

र्थापत्त्यनुपलब्धिसम्भवैतिह्य (८) प्रमाण मानते है। नैयायिको का प्रमाणचतुष्टय, जो स्वाभीष्ट मत है, आगे दिया जा रहा है।

तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् ।

अर्थ—इन (चार प्रकार के) यथार्थानुभवो या प्रमाओ के कारण भी चार प्रकार के है—प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष, अनुमिति प्रमा का करण अनुमान, उपमिति प्रमा का करण उपमान, तथा शाब्द प्रमा का करण शब्द।

विशेष—ये चार प्रमा-करण अर्थात् प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द है। इनका विवेचन आगे किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त जो चार और प्रमाण इसके पूर्व कहे गये है, उनका सामान्य परिचय इस प्रकार है :— 'देवदत्त मोटा-तगड़ा है परन्तु वह दिन मे भोजन नही करता'। 'तब वह रात को अवश्य खाता होगा' इस प्रकार के ज्ञान मे जो करण है, वही अर्थापत्ति है[1]। नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर व्यतिरेकानुमान के अन्तर्गत मानते हैं। भाट्टमीमासक और वेदान्ती अभाव के ज्ञान या ग्रहण के लिये अनुपलब्धि प्रमाण मानते है। परन्तु नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष से ही अभाव का ज्ञान मानते है।[2] पौराणिको को मान्य सम्भव इस प्रकार है :—

'सम्भवस्तु यथाखार्या द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः'—खारी नामक बडे मान मे द्रोण[3] अढैया, सेर इत्यादि छोटे बाट सम्भव हैं—यह ज्ञान 'सम्भव'-जन्य है।

नैयायिको का कथन है कि 'सम्भव' भी अनुमान ही है, पृथक् या स्वतन्त्र प्रमाण नही। इसी प्रकार 'इस वट वृक्ष मे यक्ष हैं' ऐसी जनश्रुति या परम्परा को भी पौराणिक प्रमाण मानते है और इसे 'ऐतिह्य' कहते है। इसके सम्बन्ध मे नैयायिको की मान्यता यह है कि यदि ऐसी जनश्रुति या परम्परा का उद्भावक कोई आप्त पुरुष अर्थात् यथार्थ वक्ता है, तब तो यह शब्द प्रमाण है। अन्यथा यह प्रमाण है ही नही। अब जो प्रमा के करण रूप से चार प्रमाण कहे गये, उस 'करण' का लक्षण देते है :—

---

१. 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः'।—तर्कभाषा, पृ० १३८

२. 'एव पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धेनेन्द्रियेण विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेनाभावो गृह्यते'।—तर्कभाषा, प्रमाणप्रकरण

३. सोलह सेर की तौल

असाधारणकारण करणम् । व्यापारवदसाधारणं करणम्

अर्थ—असाधारण कारण को 'करण' कहते है ।

विशेष—कार्य-मात्र के प्रति साधारण कारण आठ माने गये है । ईश्वर, ईश्वर-ज्ञान, ईश्वरेच्छा, ईश्वर-कृति, प्रागभाव (पदार्थ की उत्पत्ति के पूर्व होने वाला उसका अभाव), काल, दिक् तथा अदृष्ट (धर्माधर्म) । इन लक्षण की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'असाधारण' पद दिया गया । घट रूप कार्य के प्रति चक्र (चाक) कारण बनता है अपने 'भ्रमण' (चक्कर) व्यापार के द्वारा । अतः चाक की ही भाँति उसका भ्रमण व्यापार भी कारण हो जायगा । इसलिये उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'व्यापारवद्' ऐसा विशेषण-पद लक्षण मे दिया जाना चाहिये ।[1] व्यापार अनिवार्य होने पर कारण नही, व्यापार ही है । उसका लक्षण है—'तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापारः' । 'तत्' से कारण गृहीत है । तब लक्षण का अर्थ होगा कि जो कारण से जन्य हो, एवं उसके दूसरे जन्य का जनक हो, वह 'व्यापार' कहा जाता है । जैसे, चाक का भ्रमण (घूमना) चाक का जन्य अर्थात् कार्य होता हुआ, चाक-जन्य घट का जनक है । क्योकि उसके घूमे बिना घट बन हो नही सकता । अतः यह घूमना चाक का 'व्यापार' हुआ । इस व्यापार से युक्त होकर ही चाक घट का (असाधारण) कारण है, नान्यथा । इसी से 'व्यापारवदसाधारण कारण करणम्' यही करण का परिष्कृत अथच पूर्ण लक्षण है ।

अब 'कारण' क्या है, इसका लक्षण देते है—

18 **कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् ।**

अर्थ—कार्य (उत्पन्न होने वाले पदार्थ) से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती पदार्थ को 'कारण' कहते है ।

विशेष—(1) 'कार्यात् नियता अवश्यम्भाविनी वृत्तिर्वर्तमानता यस्य तत्' (बहु० समास) । अर्थात् कार्य से पूर्व क्षण मे जिसकी वर्तमानता नियत या अवश्यम्भावी रूप से हो, वही उस कार्य का 'कारण' होगा । जैसे, घट रूप कार्य

---

१. कुछ सस्करणो मे 'व्यापारवदसाधारण कारण करणम्' यही पाठ दिया गया है । ऐसा होने पर न यह अतिव्याप्ति होगी और न ही परिष्कार अपेक्षित होगा ।

होने के पूर्व क्षण मे मृत्पिण्ड, दण्ड चक्र, कुलाल आदि का वर्तमान रहना आवश्यक है क्योकि इनमे से एक के भी अभाव मे घट बन नही सकता। अतः घट से नियतपूर्ववर्ती होने से ये सभी उसके कारण हुये। इनमे मृत्पिण्ड समवायिकारण है, दण्ड, चक्र तथा कुम्भार निमित्त कारण हैं। पहले दो कपाल बना कर, फिर दोनो को मिलाकर या जोड कर एक सम्पूर्ण घट बनाया जाता है। एव कपाल-संयोग भी घट का कारण हुआ। इसी कपाल-सयोग को घट का असमवायिकारण कहा जाता है।

(ii) कारण के इन तीनो प्रकारो का विशेष विवेचन इसी प्रसङ्ग मे आगे किया जायगा। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन केवल यह दिखाने के अभिप्राय से किया गया कि अन्यथासिद्ध के नियतपूर्ववृत्तित्व से भिन्न कारण का नियतपूर्ववृत्तित्व स्पष्ट हो जाय। कारण होने वाले नियतपूर्ववृत्ति पदार्थों के अतिरिक्त भी कुछ नियतपूर्ववृत्ति पदार्थ होते हैं जो कारण तो नही होते किन्तु कारण-भूत पदार्थ के साथ नियत रूप से रहते हैं, जैसे, दण्ड मे रहने वाली उसकी दण्डत्व जाति, उसका रूप अथवा कुम्हार का वृद्ध पिता इत्यादि। ये न्याय दर्शन की भाषा मे 'अन्यथासिद्ध' कहे जाते है—'अवश्य-क्लृप्तवर्तिनैव कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्।' इनका घट रूप कार्य की उत्पत्ति मे कोई योगदान या साहाय्य नही है। ये कार्य की उत्पत्ति मे सर्वथा अनुपयोगी या व्यर्थ हैं। परन्तु ये 'अन्यथासिद्ध' कारण होने वाले पदार्थ के साथ रहते अवश्य ही हैं। दण्ड न अपनी जाति से एक क्षण भी अलग रह सकता है और न ही अपने रूप से। तब फिर लक्षण मे 'अनन्यथासिद्ध' पद देय है, ताकि अन्यथासिद्धो मे इसकी अतिव्याप्ति न हो। अन्यथा तो दण्डरूप, दण्डत्व आदि भी घट के कारणो मे सम्मिलित हो जायँगे जो इष्ट नही है। इस प्रकार 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्ति कारणम्' यह 'कारण' का शुद्ध या परिष्कृत लक्षण हुआ। 'अनन्यथासिद्ध' का अर्थ है उपयोगी, आवश्यक।

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

अर्थ—कार्य उसे कहते है जो अपने प्रागभाव को, अर्थात् अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान अभाव का प्रतियोगी होता है।

विशेष—(1) 'यस्याभावः स प्रतियोगी' अर्थात् जिसका अभाव होता है, वही अपने उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। प्रतियोगी का सामान्य

अर्थ 'विरोधी' होता है। चूँकि घट उत्पन्न होकर अपने पूर्व विद्यमान अभाव को समाप्त कर देता है, इसीलिये वह उसका प्रतियोगी कहा जाता है।

'प्रागभावप्रतियोगि' लक्षण करने से कालादि नित्य पदार्थों मे इसकी अतिव्याप्ति नही होगी। अन्यथा 'अभावप्रतियोगि' इतना ही लक्षण करने से अन्योन्याभाव के भी 'अभाव' पद से गृहीत होने पर नित्यानित्य समस्त पदार्थों के अन्योन्याभाव-प्रतियोगी होने से अकार्य-भूत कालादि नित्य पदार्थों मे उसकी अतिव्याप्ति अनिवार्य हो जायगी। घट का पट मे तथा पट का घट में अभाव अन्योन्थाभाव है। केवल 'प्रागभावत्व कार्यत्वम्' लक्षण करने पर, अनादि होने से प्रागभाव मे 'कार्यत्व' की असक्ति ही नही होगी ('कार्य' अनादि कहाँ होता है ? वह सादि होता है)। इस प्रकार लक्षण 'असम्भव' दोष से दूषित होने लगेगा। इसके परिहारार्थ ही लक्षण—'प्रागभावप्रतियोगि'—मे 'प्रतियोगी' का ग्रहण किया गया है।

कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नकारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

अर्थ—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से कारण तीन प्रकार का होता है। जिसमे समवेत होकर अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रह कर कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते है। जैसे, तन्तु अपने मे समवेत होकर उत्पन्न हुये पट का समवायिकारण है। इसी प्रकार पट अपने मे समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न (स्थित) अपने रूप का कारण है।

कार्य अथवा कारण के साथ एक पदार्थ मे समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कारण असमवायिकारण है। जैसे तन्तुसयोग पट का, और तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। जो न समवायिकारण हो और न ही असमवायिकारण हो, तथापि कार्य का कारण अवश्य हो, वह निमित्तकारण है। जैसे, तुरी (सूत लपेटने की नली) तथा वेमा (लम्बे ताने गये सूतो मे बेडे सूत डालने वाला वयनदण्ड) इत्यादि पट के निमित्तकारण हैं।

विशेष—(i) कार्य 'पट' के साथ एक ही पदार्थ 'तन्तु' मे समवायसम्बन्ध से स्थित कारण 'तन्तु-सयोग' पट का असमवायिकारण है। यह तो सुस्पष्ट ही है कि जैसे तन्तुओ के बिना पट की उत्पत्ति नही होगी, उसी प्रकार तन्तुओ के पारस्परिक संयोग के भी बिना पट की उत्पत्ति नही हो सकती। अतः दोनो ही पट के कारण है। अब चूँकि तन्तु-सयोग पट के साथ तन्तुओ मे समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिये यह पट का असमवायिकारण है। इसी प्रकार चूंकि तन्तुरूप अपने कार्य पट-रूप के समवायिकारण पट के साथ एक पदार्थ 'तन्तुओ' मे समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिये तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। तन्तुरूप पटरूप का कारण है, यह बात तो इसी से सुस्पष्ट है कि जैसा रग-रूप तन्तुओ का होता है, उनसे बने पट का भी वैसा ही रगरूप होता है। पट मे जो रूप आता है, वह उसके कारण 'तन्तुओ' से ही आता है, जैसे 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस वैशेषिकसूत्र से स्पष्ट है। इस विवेचन से यह तथ्य भी सामने आ गया कि समवायिकारण द्रव्य ही होता है, असमवायिकारण गुण या कर्म (क्रिया) ही होता है।

निमित्तकारण दो प्रकार का होता है, चेतन निमित्त कारण एव अचेतन निमित्त कारण। द्वितीय का उदाहरण तुरी-वेमा मूल मे दिया जा चुका है। 'आदि' से चेतन निमित्तकारण का ही ग्रहण अभिप्रेत है। इसका उदाहरण तन्तुवाय (जुलाहा) है। इसी प्रकार 'घट' रूप कार्य का अचेतन निमित्त कारण चाक, उसे चलाने का साधन डण्डा (दण्ड) इत्यादि है और चेतन निमित्तकारण कुम्भकार है। घट का समवायिकारण दो कपाल (ऊपरी तथा निचला अर्धभाग, उपल्ली-तल्ली) एवं असमवायिकारण कपाल-सयोग है। कभी-कभी इन कपालो के उपादान मृत्तिका की प्रधानता की दृष्टि से उसे ही घट का समवायिकारण कह दिया जाता है। समवायिकारण को साँख्य वेदान्त आदि मे उपादान ही कहा जाता है।

(ii) 'यत्समवेतम्' पद का विग्रह है—'यस्मिन् समवेतम्'। समवायिकारण के लक्षण मे 'समवेतम्' पद न देने से चक्र आदि मे अतिव्याप्ति होती, इससे केवल 'यस्मिन्' न कहकर 'यत्समवेतम्' कहा। जैसे 'चक्र' मे घट समवाय सम्बन्ध से नही अपितु सयोग सम्बन्ध से वर्तमान है। घट समवाय सम्बन्ध से केवल अपने अवयवभूत दोनो कपालो मे रहता है, अतः कपालद्वय ही घट के समवाय कारण हुये। इसी प्रकार पट के समवाय कारण उसके अवयवभूत तन्तु ही हुये, न कि तुरी, वेमा इत्यादि।

असमवायिकारण के लक्षण मे 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' विशेषण-पद देना आवश्यक है, अन्यथा उनमे लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। आत्मा के सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि विशेष गुण निमित्त कारण होते है, असमवायिकारण नही। 'विशेष' पदार्थ मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये लक्षण मे 'कारणम्' पद दिया गया है। परमाण्वादि नित्य द्रव्यो मे रहने वाले 'विशेष' पदार्थ कही भी किसी के भी कारण नही होते। अतः 'कारणम्' कह देने से उनकी निवृत्ति हो गई। जब वे 'कारण' ही नही है, तब उनके 'असमवायिकारण' होने की तो बात ही कहाँ ? निमित्तकारण के लक्षण मे भी इसी प्रयोजन से 'कारणम्' पद दिया गया है।

पूर्व मे प्रमा के प्रत्यक्षादि चार भेद कह कर उसके करण रूप से प्रत्यक्षानुमानादि चार प्रमाणो का कथन किया गया था। किन्तु 'करण' के स्वरूपत. अज्ञात होने से उसका लक्षण करने के लिये 'कारण' का लक्षण-विभाजन किया गया, क्योकि असाधारण कारण को ही तो 'करण' कहते है। इसी बात को कारण-लक्षणानन्तर अब कहने जा रहे हैं—

तदेतत् त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।

अर्थ—समवायि, असमवायि तथा निमित्त, इन तीन कारणो मे जो असाधारण अर्थात् विशेष कारण होता है, उसी को 'करण' कहते है।

विशेष—'असाधारण' का तात्पर्य है, 'व्यापारसम्बन्धावच्छिन्न'। किसी भी कार्य के अनेक कारणो मे जो उस कार्य को सिद्ध करने वाले व्यापार या क्रिया से सम्बद्ध होने से उसका सर्वाधिक उपकारक होता है, वही 'करण' कहा जाता है। यही बात पाणिनीय अष्टाध्यायी मे 'करण' का 'साधकतम करणम्' यह लक्षण करते हुये कही गई है (साधकं कारण, अतिशयेन साधक साधकतममुत्कृष्टं कारण करणमित्यर्थः)। इस प्रकार असाधारण कारण, साधकतम तथा करण—तीनो एक ही अर्थ प्रकट करते है।

अब 'करण' का लक्षण हो चुकने के बाद प्रत्यक्ष आदि प्रमा के करण रूप से प्रत्यक्षादि प्रमाणो का कथन आगे किया जा रहा है—

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

अर्थ—उन चार प्रमाणो मे, प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रमा) के करण को 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहते है । घटादि के चाक्षुषादि प्रत्यक्ष ज्ञान मे व्यापारवद् चक्षुरादि इन्द्रिय ही करण है, अत पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय तथा एक अन्तरिन्द्रिय मन—ये छः प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

इन छहो इन्द्रियो के उनके अपने विषय के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न जो ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रत्यक्ष प्रमा है । यही प्रमा प्रमाणो का फल है ।

विशेष—(i) ईश्वर का प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रिय से नही होता, तब इस लक्षण की ईश्वर के प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति होगी । इस शका का समाधान यह है कि प्रस्तुत लक्षण जन्य के प्रत्यक्ष का लक्षण है, न कि नित्य ईश्वर के प्रत्यक्ष का । जब वह इस प्रत्यक्ष का विषय ही नही है, तब उसके प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति का प्रश्न ही नही उठता ।

(ii) दूसरी शका इस लक्षण के विरुद्ध यह है कि जब व्यापारवद् इन्द्रिय अपने ग्राह्य विषय से सन्निकर्ष या सम्बन्ध करने के अनन्तर ही प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रमा उत्पन्न करती है, तब सन्निकर्ष के अभाव मे ज्ञान नही होना चाहिये । ऐसी स्थिति मे चक्षुरिन्द्रिय एवं उसके विषय घटादि के बीच उपनेत्र (चश्मे) के चक्षुर्निरोधक होने पर सन्निकर्ष न स्थापित हो पाने से घटादि का ज्ञान नही होना चाहिये किन्तु उसका ज्ञान तो होता है, बल्कि सुस्पष्ट ज्ञान होने के लिये ही चश्मा लगाया जाता है जिसमे वह विशेष सहायक होता है । इस शका का समाधान यह है कि स्वच्छ द्रव्य तेज का निरोधक नही होता । इस कारण उसके भीतर चक्षु का प्रवेश सम्भव है जिससे उसके भीतर से अपने घटादि विषय के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और उसका ज्ञान हो जाता है । निर्मल गङ्गा-जल के भीतर विद्यमान मत्स्य को भी चक्षुरिन्द्रिय से इसीलिये देख लिया जाता है ।

mb **तद् द्विविधं—निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । तत्र निष्प्रकारक ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किञ्चित् सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयम् ।** 18 ३५५

अर्थ—निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है । निष्प्रकार अर्थात् विशेषण, विशेष्य और सम्बन्धादि से शून्य

प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्पक कहते है। जैसे, किसी पदार्थ के दूर से दिखाई देने पर 'यह कुछ है' यह ज्ञान। बिशेषणादि प्रकारो से युक्त ज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। जैसे, 'यह डित्थ नामक व्यक्ति है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम वर्ण का है' इत्यादि ज्ञान।

विशेष—उपर्युक्त पक्तियो का तात्पर्य यह है कि विशेषण, विशेष्य एव उन दोनो के सम्बन्ध जिस ज्ञान के विषय न हो वही निर्विकल्पक कहा जाता है। सविकल्पक इसके विपरीत प्रकार-युक्त होता है। इसी से एक-दूसरे के लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष दूर करने के लिये क्रमशः 'निष्प्रकारकम्' तथा 'सप्रकारकम्' पद दिये गये है। 'प्रकार' का अर्थ है नामजात्यादि विशेष, उससे विशिष्ट ज्ञान सविकल्पक कहा जाता है—'नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्ध-विषयकं ज्ञानं सविकल्पकम्'। घटादि मे सविकल्पक के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसके लिये 'ज्ञानम्' पद दिया गया है। घटादि ज्ञान के विषय है, स्वयं ज्ञान नही है। प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक तथा सविकल्पक के भेद से द्विविध कहा गया, जो इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। यह बात इसके पूर्व स्पष्ट की जा चुकी है। यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है, यह आगे प्रतिपादित किया जा रहा है—

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

अर्थ—प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—१. संयोग, २. सयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय, तथा ६. विशेषणविशेष्यभाव।

विशेष—प्रत्यक्षज्ञान का कारण-भूत इन्द्रिय और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध तो छः प्रकार का होता ही है, स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान भी छः प्रकार का होता है—१. घ्राणज, २. रासन, ३. चाक्षुष, ४. श्रौत या श्रावण, ५. त्वाच, और ६. मानस। यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य लौकिक प्रत्यक्ष से ही है, उसके दूसरे प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष से नही। घ्राणेन्द्रिय से होने वाला ज्ञान घ्राणज, रसनेन्द्रिय से होने वाला रासन, चक्षुरिन्द्रिय से होने वाला चाक्षुष, श्रोत्र या श्रवण से होने वाला ज्ञान श्रौत या श्रावण, त्वगिन्द्रिय से होने वाला ज्ञान त्वाच, तथा अन्तरिन्द्रिय मनस् से सुख-दुःख इच्छादि आन्तरिक विषयो का

ज्ञान मानस कहलाता है। प्रथम पाँचों प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से होने वाले बाह्य विषयो के ज्ञान हैं।

जिस इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के साथ जो सन्निकर्ष होता है, वह आगे दिया जा रहा है—

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्व-सामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षः। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

अर्थ—चक्षुरिन्द्रिय द्वारा घटादिद्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होने मे संयोग सम्बन्ध होता है। घट मे समवाय सम्बन्ध से वर्तमान उसके रूप गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से संयुक्त-समवाय सम्बन्ध होता है, क्योकि पहले चक्षु का घट (विषय) से सयोग होता है, फिर उस घट मे समवेत रूप के साथ समवाय सम्बन्ध स्थापित होने पर उसका प्रत्यक्ष होता है। घट के रूप मे समवाय सम्बन्ध से वर्तमान रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष होने मे संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध होता है। क्योकि पहले चक्षु का घट से सयोग फिर उसमे समवेत रूप के साथ समवाय, और अन्त मे उसमे समवेत रूपत्व सामान्य (जाति) के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से रूपत्व का ज्ञान होता है।

विशेष—(1) चक्षुरिन्द्रिय का उसके विषय घट के साथ जो संयोग सन्निकर्ष कहा गया, उसका कारण दोनो का द्रव्य होना है। घट पृथिवी विकार होने से पार्थिव द्रव्य है, और चक्षुरिन्द्रिय तेजो-विकार होने से तैजस। संयोग द्रव्यों मे ही होता है—'द्रव्ययोरेव सयोग इति नियमात्'? दो द्रव्यो के बीच समवाय भी होता है, किन्तु जब उनमे अवयवावयवि-भाव अर्थात् कारण-कार्य भाव हो तभी यह होता है। जैसे, तन्तु अवयव-द्रव्य मे उसके कार्यरूप से स्थित अवयवी पट समवाय सम्बन्ध से ही रहता है। इस स्थिति को छोड कर अन्यत्र सर्वत्र दो द्रव्यो मे सयोग सम्बन्ध ही होता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय जब तक मन से सयुक्त न होगी और फिर वह मन आत्मा से संयुक्त नही होगा, तब पदार्थ का ज्ञान नही होगा क्योकि ज्ञान का अधिकरण तो आत्मा ही है, उसी मे ज्ञान का

अधिकरण बनने की, ज्ञान प्राप्त करने की, योग्यता है, अन्य किसी द्रव्य मे नही। अतएव न्याय दर्शन मे आत्मा का लक्षण 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' दिया गया।

(11) जैसे, घटादि दृश्य द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे सयोग सन्निकर्ष निरूपित किया गया, वैसे ही स्पृश्य शय्यादि द्रव्य के त्वाच (त्वगिन्द्रियजन्य) प्रत्यक्ष, एव च आत्म-द्रव्य के मानस (मनःकृत) प्रत्यक्ष मे भी सयोग ही सन्निकर्ष होता है। जैसे, घट का 'घटोऽयम्'—यह घट है—इत्याकारक ज्ञान होता है, उसी प्रकार शय्या का 'शय्येय चिक्कणा शीतला च'—यह शय्या चिकनी एव शीतल स्पर्श वाली है, तथा आत्मा का मन के द्वारा 'अहमस्मि'—मै हूँ—इत्याकारक ज्ञान होता है। 'यह शय्या है' इतना भर ज्ञान तो दृष्टिमात्र से हो जाने के कारण चाक्षुष होगा, त्वाच नही। त्वाच ज्ञान तो वह होगा जो त्वक् से शय्या का सयोग होने पर 'यह शय्या चिकनी और शीतल अथवा कठोर और तप्त है' इत्याकारक होगा।

इस प्रसङ्ग मे यह जानकारी महत्त्वपूर्ण है कि इन तीन के अतिरिक्त शेष तीन प्रकार के प्रत्यक्षो—रासन, श्रौत तथा घ्राणज—मे संयोग सन्निकर्ष नही होता, क्योकि घ्राण का ग्राह्य विषय 'गन्ध', रसना का ग्राह्य विषय 'रस', तथा श्रोत्र या श्रवण का ग्राह्य विषय 'शब्द'—तीन के तीनो ही द्रव्य न होकर क्रमशः पृथिवी, जल तथा आकाश द्रव्यो के गुण है, और उनके साथ पार्थिव (पृथिवी का कार्य) घ्राण, जलीय (जल का कार्य) रसनेन्द्रिय, तथा आकाश-रूप श्रवणेन्द्रिय का संयोग न होकर समवाय ही सन्निकर्ष होगा। क्योकि गुण-गुणी (द्रव्य) का सम्बन्ध समवाय है, सयोग नही; संयोग तो द्रव्य और द्रव्य के बीच का सम्बन्ध है। श्रोत्र के द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होने मे समवाय होता है, यह बात ग्रन्थकार स्वय ही आगे कह रहे हैं—

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सम्बन्धः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अर्थ—श्रोत्र के द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होने मे समवाय सम्बन्ध होता है, क्योकि कर्णविवरवर्ती आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय है तथा शब्द आकाश का गुण है,

और गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय ही होता है। शब्द मे समवेत शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष मे समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है, क्योकि शब्द के श्रोत्र-समवेत होने पर, उसमे समवेत शब्दत्व जाति के साथ श्रोत्र का समवेत-समवाय ही सम्बन्ध होगा।

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः। 'घटा-भाववद् भूतलम्' इत्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।

अर्थ—'अभाव' पदार्थ के प्रत्यक्ष मे विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है। 'यह भूतल घट के अभाव से युक्त या विशिष्ट है'—इस ज्ञान मे चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त भूतल (विशेष्य) मे घटाभाव विशेषण है।

विशेष—(i) 'घटाभाववद् भूतलम्' मे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त भूतल मे घटाभाव विशेषण के रूप मे है और भूतल विशेष्य है। इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा मे 'अहं सुखरहितः' इस प्रकार सुख का अभाव ज्ञात (गृहीत) होता है, तब मन से संयुक्त आत्मा का सुखाभाव विशेषण होता है और आत्मा विशेष्य। जब श्रोत्रसमवेत गकार (ग इस ध्वनि) में घकार का अभाव गृहीत होता है, तब श्रोत्र-समवेत गकार का घत्वाभाव विशेषण होता है और गकार विशेष्य। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

(ii) एक बात विशेष ध्यान देने की है। प्रथम दृष्टान्त मे चक्षु का 'भूतल' विशेष्य के साथ संयोग सन्निकर्ष होने के बाद विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से उसमे विशेषण रूप से स्थित घटाभाव का ज्ञान कहा गया। द्वितीय दृष्टान्त मे भी मनः संयुक्त होने पर 'आत्मा' विशेष्य मे विशेषण रूप से स्थित सुखा-भाव का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से ग्रहण या ज्ञान कहा गया। तृतीय दृष्टान्त मे श्रोत्रेन्द्रिय से समवेत 'गकार' विशेष्य मे विशेषण रूप से स्थित घत्वाभाव का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से ग्रहण कहा गया। इससे जो बात स्पष्ट होती है, वह यह है कि तत्तदभाव रूप विशेषण का ग्रहण तो विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से ही होता है परन्तु तत्तद् इन्द्रिय से संयोग, समवाय इत्यादि सन्निकर्षों द्वारा प्रथम तत्तद् विशेष्यो का ग्रहण होने के अनन्तर ही उनमे स्थित तत्तद् अभावो का ग्रहण होता है। इसी तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुये केशवमिश्र ने अपने ग्रन्थ 'तर्कभाषा' के प्रत्यक्ष प्रकरण के

अन्त मे इस प्रकार लिखा है—'तदेवं सक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्ध-सम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते'। फलितार्थ यह हुआ कि पूर्वोक्त पाँच सन्निकर्षों मे से अन्यतम के साथ मिलकर ही विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष 'अभाव' पदार्थ का ग्रहण करवाने मे समर्थ होता है, अकेले अर्थात् असहाय होकर नही। केवल विशेषण० सन्निकर्ष द्वारा कभी भी अभाव का ग्रहण नही होता अपितु पूर्वोक्त पाँच सन्निकर्षों मे से कोई एक, अवश्य ही उसके साथ रहा करता है।

(iii) एक बात और। जैसे 'अभाव' पदार्थ का ग्रहण, वैसे ही 'समवाय' नामक पदार्थ का भी ग्रहण या ज्ञान संयोगादि-युक्त विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है। इसे भी तर्कभाषाकार ने ऊपर उद्धृत पक्तियो के अनन्तर ही इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

'एव समवायोऽपि। चक्षु सम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते इह तन्तुषु पटसमवायः इति'।

वस्तुतः तो समवाय के प्रत्यक्ष होने के विषय मे न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायो मे परस्पर मतभेद है। वैशेषिक समवाय का प्रत्यक्ष नही मानता किन्तु इसके विपरीत न्याय उसका प्रत्यक्ष मानता है। वैशेषिक उसको अनुमानगम्य मानता है। न्याय तो विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा ही अभाव की तरह समवाय, का भी ग्रहण मानता है। एक अन्तर अवश्य है, वह यह कि अभाव का ग्रहण तो पाँच सम्बन्धो मे से किसी एक से युक्त विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा होता है, किन्तु समवाय का ग्रहण केवल संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय, इन्ही तीन मे से किसी एक से युक्त विशेषण० सन्निकर्ष द्वारा होता है। इसका कारण यह है कि समवाय सम्बन्ध केवल द्रव्य गुण तथा कर्म मे रहता है, एव इनमे से द्रव्य के साथ इन्द्रिय का सयोग, शब्द से भिन्न सभी गुणो तथा कर्मों के साथ इन्द्रिय का सयुक्तसमवाय, और शब्द गुण के साथ समवाय सन्निकर्ष होता है।

अन्ततः प्रत्यक्ष-प्रकरण का उपसहार तर्कसग्रहकार इस प्रकार करते है—

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करणमिन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमितिसिद्धम्।

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त संयोगादि छः सन्निकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष (प्रमा) है। उसका 'करण' अर्थात् असाधारण कारण इन्द्रिय है। इसलिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध है।

अनुमान-खण्ड

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिः॥

अर्थ—'अनुमिति' के असाधारण कारण को 'अनुमान' कहते है। (अनुमिति किसे कहते हैं?) 'परामर्श' से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते है। (परामर्श किसे कहते है?) साध्य या लिङ्गी की व्याप्ति से विशिष्ट साधन (हेतु) या लिङ्ग की पक्ष-धर्मता का ज्ञान। जैसे, वह्नि (लिङ्गी या साध्य) की व्याप्ति से विशिष्ट—अर्थात् उसका व्याप्य—धूम पर्वत (पक्ष) मे है, यह ज्ञान परामर्श है। उस परामर्श से उत्पन्न 'अत· पर्वत वह्निमान् है अर्थात् पर्वत मे वह्नि है', यह ज्ञान अनुमिति है।

विशेष—(i) केवल 'करण' को 'अनुमान' कहने से लकडी आदि के काटने मे करण बनने वाला परशु आदि भी 'अनुमान' हो जायगा, इस अनिष्ट अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये लक्षण मे 'अनुमिति' पद दिया गया है। केवल 'मितिकरणम्' ऐसा लक्षण करने से प्रत्यक्ष इत्यादि मिति (प्रमा, ज्ञान) के करण प्रत्यक्षादि प्रमाणो मे अतिव्याप्ति होगी, अतः 'अनुमितिकरणम्' ऐसा लक्षण किया गया। इससे प्रत्यक्षादि प्रमा के करणो मे अतिव्याप्ति नही होगी।

(ii) 'व्याप्य' का अर्थ है व्यापक की अपेक्षा कम स्थान मे रहने वाला, और 'व्यापक' का अर्थ है व्याप्य की अपेक्षा अधिक स्थानो मे रहने वाला। धूम जहाँ भी रहता है, वहाँ अग्नि अवश्य रहता है, उससे अन्यत्र भी रहता है। किन्तु अग्नि जहाँ-जहाँ रहता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र धूम नही रहता। जैसे तपाये गये अयोगोलक (लौह-पिण्ड) मे अग्नि की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, स्पष्ट है। किन्तु उसमे धूम का अभाव है। यही वह्नि का धूम की अपेक्षा 'व्यापकत्व' तथा धूम का वह्नि की अपेक्षा 'व्याप्यत्व' है। इससे यह ज्ञात हुआ कि जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ-वहाँ वह्नि भी जरूर होगा। किन्तु जहाँ-जहाँ

वह्नि होगा वहाँ-वहाँ धूम सदैव होगा, अवश्य होगा—ऐसा नही है। इसी से व्याप्य धूम का वह्नि की सत्ता सिद्ध करने मे 'साधनत्व' तथा वह्नि का 'साध्यत्व' स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार व्याप्य और साधक तथा व्यापक और साध्य पर्याय है। अब 'साध्य' का भाव स्पष्ट हो जाने पर 'पक्ष' को समझना सरल है। इसका लक्षण आगे चलकर इस प्रकार कहा गया है—'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः'। अर्थात् जिसमे साध्य सन्दिग्ध हो, वह पक्ष है। जैसे, पर्वत मे धूम के प्रत्यक्ष होने पर भी वह्नि के अप्रत्यक्ष होने से वहाँ उसकी सत्ता सन्दिग्ध है, अतः पर्वत 'पक्ष' है। फिर यह ज्ञान कि पर्वत मे वर्तमान धूम वह्नि-व्याप्य है, 'परामर्श' कहलाता है। और 'पर्वत का धूम वह्नि-व्याप्य है अर्थात् पर्वत मे धूम की सत्ता उसमे वह्नि की सत्ता के साथ ही हो सकती है उसके अभाव मे नहीं', इस परामर्श के अनन्तर ही 'अत· पर्वत वह्निमान् है, अर्थात् पर्वत मे वह्नि है' यह ज्ञान या प्रमा उत्पन्न हो जाती है। यही अनुमिति है एव इसका करण अर्थात् इस सीधे उत्पन्न करने वाला होने से एतत्पूर्ववर्ती परामर्श अनुमान है।

अब मूल के 'व्याप्ति' एव 'पक्षधर्मता' पदो का भाव स्पष्ट करते हुये कहते है—

यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अर्थ—जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी होता है—व्याप्य धूम और व्यापक अग्नि के इस साहचर्य नियम को, इस नियत या ध्रुव सहभाव (सहस्थिति) को 'व्याप्ति' कहते है। व्याप्य धूमादि का पर्वतादि पक्ष मे रहना उसकी 'पक्षधर्मता' है।

विशेष—व्याप्ति का अर्थ है—'नियत साहचर्य, सहास्तित्व या सामानाधिकरण्य' अर्थात् एक ही अधिकरण या आश्रय मे रहना। इसी के 'नियम' अर्थात् व्यभिचाराभाव को 'व्याप्ति' कहते है। 'व्यभिचार' का अर्थ है 'साध्याभाववद्-वृत्तित्वम्' अर्थात् साध्य के अभाव वाले आश्रय मे भी साधन का रहना। इसके विपरीत व्यभिचाराभाव का अर्थ है 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्'—साध्य के अभाव वाले आश्रय अथवा अधिकरण मे न रहना। जैसे, जलाशय या ह्रद मे साध्य वह्नि के अभाव के साथ-साथ उसके साधन या व्याप्य धूम का भी अभाव रहता है।

साध्याभाववद् 'जलाशय' अधिकरण मे धूम का यह 'अवर्तित्व' (न रहना) व्यभिचारभाव है। तब फिर यही 'व्याप्ति' नियम का स्वरूप हुआ— 'यत्र-यत्र अग्नेरभावस्तत्र तत्र धूमाभावोऽपि यथा ह्रदे (जलाशय)'। इसके विपरीत तप्त अयोगोलक (लोहपिण्ड) मे वह्नि है जो उसके लाल रग तथा उष्ण स्पर्श से प्रत्यक्ष है किन्तु इस अयोगोलक मे धूम नही है। अतः 'यत्र-यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राग्नि नास्ति' यह व्याप्ति नही बनती क्योकि उसका व्यभिचार तप्त अयोगोलक मे प्राप्त है। 'यत्र यत्राग्निर्नास्ति, तत्र-तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रदे (जलाशये)' यही व्यतिरेक-व्याप्ति शुद्ध है क्योकि इसका कही भी व्यभिचार नही प्राप्त होता। इस प्रकार साध्याभाव को व्याप्य तथा साधनाभाव को व्यापक रूप मे ग्रहण करने से व्यतिरेक व्याप्ति बनती है।

अनुमानं द्विविधं—स्वार्थं परार्थं च।

अर्थ—अनुमान दो प्रकार का होता है— स्वार्थानुमान और पदार्थानुमान।

तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि—स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत् स्वार्थानुमानम्।

अर्थ—उन स्वय को होने वाली अनुमिति के हेतु को 'स्वार्थानुमान' कहते है। जैसे, स्वयं ही बार-बार धूम और अग्नि का साहचर्य देखने से 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहता है' इस प्रकार रसोईघर इत्यादि मे व्याप्ति को जानकर कभी पर्वत के समीप गया हुआ उसमे अग्नि की सत्ता के विषय मे सन्देह होते ही वहाँ धूम देखकर 'जहाँ-जहाँ धूम, वहाँ-वहाँ अग्नि' इस व्याप्ति का स्मरण करता है। उसके बाद ही उसे यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'वह्नि-व्याप्य धूम वाला यह पर्वत है'। यही लिङ्ग (धूमादि) का परामर्श कहा जाता है। इसी परामर्श से 'अतः पर्वत मे वह्नि है' ऐसी अनुमिति-प्रमा साक्षात् (सद्यः) उत्पन्न होती है। यही स्वार्थानुमान है।

विशेष—'लिङ्ग' का शाब्दिक अर्थ है—'लीनमर्थं गमयति ज्ञापयतीति लिङ्गम्'। अर्थात् 'अदृष्ट अर्थ का ज्ञान कराने वाला'—पर्वतादि मे अदृष्ट

(चक्षुरिन्द्रिय से अगृहीत) अग्नि आदि का ज्ञान कराने से धूमादि लिङ्ग है। सामान्य भाषा मे इसी को चिह्न कहते है। इस चिह्न से नियमतः ज्ञात होने वाला वह्नि 'लिङ्गी' कहा जाता है।

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत् परार्थानुमानम्। यथा—पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा इति। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

अर्थ—जो स्वय धूम से अग्नि का अनुमिति-ज्ञान करके दूसरे को भी उसका ज्ञान कराने के लिये पाँच अवयवो वाले वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान है। जैसे—'पर्वत मे वह्नि है, उसके धूमयुक्त होने से, जो-जो धूम-युक्त होता है वह सभी वह्नि-युक्त होता है जैसे रसोईघर, यह (पर्वत भी) वैसा (धूमवान्) है, अतः वह भी वैसा अर्थात् वह्निमान् है।' इन पाँच अवयवो से युक्त वाक्य द्वारा प्रतिपादित लिङ्ग से दूसरे को भी पर्वत मे वह्नि का ज्ञान (अनुमिति) हो जाता है।

ये पाँच अवयव कौन-कौन हैं, इसे आगे बताया जा रहा है—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम् इत्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात् तथेति निगमनम्।

अर्थ—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन—ये पाँच अवयव है। 'पर्वत वह्निमान् है'—यह प्रतिज्ञा है। 'धूमवाला होने के कारण'—यह हेतु है। 'जो-जो धूम वाला है, वह सभी वह्निवाला भी है जैसे रसोईघर'—यह उदाहरण है। 'यह पर्वत वैसा अर्थात् वह्निव्याप्य धूम वाला है'—यह उपनय है। 'अतः (वह्निव्याप्य धूम वाला होने से) यह वह्नि वाला भी है'—यह निगमन है।

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

अर्थ—चूंकि स्वार्थानुमिति एव परार्थानुमिति, दोनो का लिङ्गपरामर्श ही कारण है, इसलिये लिङ्गपरामर्श अनुमान प्रमाण है।

विशेष—पूर्व के समस्त विवेचन से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो चुकी है कि लिङ्गपरामर्श का प्रतिनिधिभूत उपवाक्य 'उपनय' है। इसे उपनय इसीलिये कहते है कि नय—अनुमिति—के ठीक पूर्व इसकी स्थिति है। इसके अनन्तर ही 'निगमन' उपवाक्य होता है जो अनुमिति का स्वरूप उपस्थित करता है। सारे पञ्चावयव अनुमान-वाक्य की परिणति इसी नय या अनुमिति मे होती है, अतः इसकी 'निगमन'—निष्कर्ष—सज्ञा सर्वथा उपयुक्त है।

लिङ्गं त्रिविधम्-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति।

अर्थ—लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि तथा केवलव्यतिरेकि।

अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसम्' इत्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपिनास्ति यथा ह्रद' इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

अर्थ—अन्वय और व्यतिरेक, दोनो से जिसकी व्याप्ति हो, उसे अन्वय-व्यतिरेकि लिङ्ग (हेतु) कहते है। जैसे साध्य वह्नि की सिद्धि मे 'धूमवत्त्व' हेतु 'अन्वयव्यतिरेकी' है क्योकि इसकी दोनो व्याप्तियाँ बन सकती है। 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है, जैसे महानस (पाकशाला) मे'—यह (धूम की) अन्वय-व्याप्ति है। 'जहाँ वह्नि नही है वहाँ धूम भी नही है, जैसे ह्रद (जलकुण्ड, जलाशय) मे'—यह (धूम की) व्यतिरेकव्याप्ति है।

विशेष—तात्पर्य यह है कि अन्वयव्याप्ति मे हेतु या लिङ्ग (साधन) व्याप्य तथा लिङ्गी (साध्य) व्यापक होता है। किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति मे इसका उल्टा होता है अर्थात् साध्याभाव व्याप्य या लिङ्ग होता है और साधनाभाव व्यापक या लिङ्गी। इस विषय मे अधोलिखित दो कारिकाये सुप्रसिद्ध है—

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥१॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापक साधनात्ययः ॥२॥

'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः' अर्थात् उस (धूम) की स्थिति मे उस (अग्नि) की स्थिति 'अन्वय' है। एवं 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' अर्थात् उस (अग्नि) के अभाव मे उस धूम का अभाव 'व्यतिरेक' है। धूम की दोनो व्याप्तियाँ होती है, अतः 'धूमवत्त्व' अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा, घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्य प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

अर्थ—जिस लिङ्ग (हेतु) की केवल अन्वयव्याप्ति ही होती है, उसे 'केवलान्वयि' कहते है। जैसे, 'घट अभिधेय (वाच्य) है, प्रमेय (प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय) होने से, पट की तरह यहाँ प्रमेयत्व (हेतु) और अभिधेयत्व (साध्य) की केवल अन्वयव्याप्ति है—'यत्र-यत्र प्रमेयत्वं तत्रतत्राभिधेयत्व यथा पटे'। इनकी व्यतिरेकव्याप्ति नही है, अर्थात् 'यत्र-यत्राभिधेयत्व नास्ति तत्र-तत्र प्रमेयत्वमपि नास्ति' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है, क्योकि सारे ही जागतिक पदार्थ प्रमेय है और इसी से अभिधेय भी है। जब इसका किसी भी पदार्थ मे अभाव ही सम्भव नही, तब इसकी व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण क्या होगा ? इसी से इसकी व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव है जिससे इसे केवलान्वयी हेतु कहा गया।

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा, 'पृथिवी इतरेभ्यो-भिद्यते गन्धवत्त्वात्, यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवद् यथा जल, न चेयं तथा, तस्मान्न तथा' इति। अत्र यद् गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

अर्थ—जिस लिङ्ग (हेतु) की केवल व्यतिरेकव्याप्ति ही होती है, उसे 'केवलव्यतिरेकि' कहते है। जैसे, 'पृथिवी गन्धवती होने से अन्यो से भिन्न है, जो अन्यो से भिन्न नही है वह गन्ध वाला नही है जैसे जल, यह पृथिवी जल के समान (गन्धरहित) नही है, इसलिये यह (अन्यो की तरह) गन्धहीन नही अपितु गन्धवती है।' यहाँ पर 'जो गन्धवती है वह इतर-भिन्न है' इसमे कोई दृष्टान्त नही है क्योकि गन्धवती समस्त पृथिवी ही पक्ष है, उसके अतिरिक्त तो कोई गन्धवत् द्रव्य है नही जो दृष्टान्त बने। इसी (दृष्टान्ताभाव) से 'गन्धवत्त्व' हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु (लिङ्ग) है।

अब 'पक्ष', का लक्षण देते हुये ग्रन्थकार कहते हैं—

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः ।

अर्थ—जिसमे साध्य की सत्ता सन्दिग्ध हो, उसका 'पक्ष' कहते है। जैसे, प्रत्यक्ष धूम वाला पर्वत पक्ष है क्योकि धूमवत्त्व से साध्य उसका वह्निमत्त्व सन्दिग्ध है।[1]

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, यथा तत्रैव महानसम् ।

अर्थ—जिसमे साध्य की सत्ता निश्चित हो उसे 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे, उसी (धूमवत्त्व हेतु) मे महानस (पाकशाला)।

विशेष—जहाँ पर्वतादि 'पक्ष' मे हेतु की सत्ता सन्दिग्ध रहती है, वही महानसादि सपक्ष मे उसकी सत्ता निश्चित रहती है। इसीलिये पक्ष मे अतिव्याप्ति हटाने के लिये सपक्ष के प्रस्तुत लक्षण मे 'निश्चित' पद दिया गया है।

निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः, यथा तत्रैव महाह्रदः ।

अर्थ—जिसमे साध्य का अभाव निश्चित हो उसे 'विपक्ष' कहते है। जैसे, उसी (धूमवत्त्व हेतु) मे महाह्रद (जलाशय)।

विशेष—महाह्रद मे साध्य का अभाव निश्चित है, उसमे वह्नि नही है। इसीलिये वह 'विपक्ष' है। फलतः अन्वयव्याप्ति का दृष्टान्त 'सपक्ष' तथा व्यतिरेकव्याप्ति का दृष्टान्त 'विपक्ष' कहा जाता है।

अब अनुमान के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'हेतु' के प्रसङ्ग मे ग्रन्थकार असद् हेतु (हेत्वाभास) का विवेचन इसलिये करने जा रहे है ताकि उनसे परिचित होकर उनके प्रयोग से स्वय बचा जा सके और विपक्षी द्वारा प्रयुक्त होने पर उन्हे ढूंढ कर प्रदर्शित किया जा सके जिससे उसका पक्ष ध्वस्त हो जाय।

सव्यभिचार-विरुद्ध-सत्प्रतिपक्षासिद्ध-बाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः ।

अर्थ—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित—ये पाँच हेत्वाभास है।

---

१. 'पक्ष' की व्याख्या पीछे अनुमान के लक्षण के अन्तर्गत दिये गये 'विशेष' मे द्रष्टव्य है।

विशेष—'हेत्वाभास' का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है—'हेतुवद् आभासन्ते' (न तु हेतव) इति हेत्वाभासाः । अर्थात् जो स्वरूप से तो शुद्ध हेतु लगे किन्तु शुद्ध या सद् हेतु न होकर असद् हेतु हो, उन्हे हेत्वाभास कहते है । 'हेतौ' इस पाणिनीय सूत्र से हेतु पञ्चम्यन्त होता है । जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' मे 'धूमवत्त्व' हेतु पञ्चम्यन्त है । इसी प्रकार जो अहेतु या असद् हेतु भी पञ्चम्यन्त होने से हेतु-जैसा प्रतीत हो किन्तु सद् हेतु की शर्तों को पूरा न करता हो, वह असद् हेतु हेतुवत् प्रतीत होने से 'हेत्वाभास' कहा जाता है । त्रिविध हेतुओ मे से अन्वयव्यतिरेकी हेतु तो पाँच शर्तों को पूरी करके अपना साध्य सिद्ध करने मे समर्थ होता है—पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्ष-व्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व । केवलान्वयी हेतु के विषय मे विपक्ष-व्यावृत्ति शर्त नही होती । इसी प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु मे सपक्ष-सत्त्व शर्त नही होती । इस प्रकार ये दोनो हेतु चार-चार शर्तें ही पूरी करके अपने-अपने साध्य को सिद्ध करने मे समर्थ होते हैं । ऐसा इसलिये है कि केवलान्वयी हेतु का विपक्ष और केवलव्यतिरेकी का सपक्ष नही होता । अब यहाँ उपर्युक्त पाँचो शर्तों का अभिप्राय प्रकट किया जा रहा है जो इस प्रकार है—

हेतु का पक्ष मे होना उसका 'पक्षसत्त्व' (पक्षधर्मत्व) है, सपक्ष मे होना 'सपक्षसत्त्व' है, विपक्ष मे न होना 'विपक्षव्यावृत्ति' है । हेतु के साध्य रूप विषय का बाधित न होना, उसका 'अबाधितविषयत्व' है । हेतु के साध्य के अभाव के साधक प्रतिपक्षी हेतु का न होना उसका 'असत्प्रति-पक्षत्व' है । ८८·

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स त्रिविधः-साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात् ।

अर्थ—अनैकान्तिक हेतु को 'सव्यभिचार' हेत्वाभास कहते है । जिसका एक पक्ष मे निश्चय हो वह हेतु ऐकान्तिक हुआ । इसके विपरीत जिसका एक पक्ष मे निश्चय न हो वह अनैकान्तिक है और अनैकान्तिक होने से ही वह 'सव्यभिचार' हेत्वाभास कहा जाता है । इसके तीन भेद है । एक साधारण, दूसरा असाधारण, और तीसरा अनुपसहारी ।

तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः । यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति । अत्र प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात् ।

यह प्रमेयत्व हेतु

– सहीलौन का विपक्ष व्यक्ति से

अर्थ—जो हेतु साध्याभाव वाले पदार्थ मे रहता है, उसे 'साधारण अनैकान्तिक' कहते है। जैसे, पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' अनुमान मे दिया गया 'प्रमेयत्व' हेतु साध्य वह्नि से रहित ह्रद मे रहता है, अतः व्यभिचारी अथवा अनैकान्तिक होने से यह साधारण हेत्वाभास हो गया।

सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्व हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्त शब्दमात्रवृत्ति।

अर्थ—जो हेतु समस्त सपक्षो एव विपक्षो मे न रहकर केवल पक्ष मे रहता है, उसे असाधारण अनैकान्तिक कहते है। जैसे, 'शब्दो नित्य. शब्दत्वात्' अनुमान मे दिया गया 'शब्दत्व' हेतु समस्त नित्यो (आकाशादि पक्षो) एव समस्त अनित्यो (घटादि विपक्षो) मे न रहकर केवल पक्ष 'शब्द' मे रहता है।

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा, सर्वमनित्य प्रमेयत्वादिति अत्र सर्वस्यापि प्रमेयत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

अर्थ—अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हेतु का 'अनुपसहारी अनैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे, 'सर्वमनित्य प्रमेयत्वात्' अनुमान मे 'सर्व' (पदार्थ) के पक्ष हो जाने से न तो कोई अन्वय-दृष्टान्त मिलता है और न व्यतिरेक-दृष्टान्त। दृष्टान्त के अभाव मे उपसहार न होने के कारण 'प्रमेयत्व' हेतु 'अनुपसहारी' हेत्वाभास है।

विशेष—'यत्र-यत्र प्रमेयत्व तत्र-तत्र अनित्यत्वम्' इस अन्वय व्याप्ति का कोई दृष्टान्त नही है। इसी प्रकार, 'यत्र-यत्र अनित्यत्वाभावस्तत्र-तत्र प्रमेयात्वाभावः' इस व्यतिरेक-व्याप्ति का भी कोई दृष्टान्त नही है क्योकि 'सर्व' पद से पदार्थ-मात्र को ही पक्ष बना चुके है।

साध्याभावव्याप्तोहेतुर्विरुद्धः। यथा, शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। अत्र कृतकत्व हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

अर्थ— साध्य के अभाव मे व्याप्त हेतु को 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे, 'शब्दो नित्य: कृतकत्वात्' अनुमान मे 'शब्द' पक्ष मे नित्यत्व रूप साध्य की सिद्धि के लिये दिया गया 'कृतकत्व' (जन्यत्व) हेतु 'अनित्यत्व' रूप साध्याभाव मे व्याप्त है (क्योकि 'यत्र-यत्र कृतकत्व तत्र-तत्र अनित्यत्वम्' अर्थात् जो

भी वस्तु कृतक या जन्य होगी, वह सभी अनित्य होगी , जैसे घटादि—इस प्रकार की व्याप्ति है) ।

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं, स प्रतपक्षः । यथा, शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववद् इति, शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवदिति ।

अर्थ—जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक अन्य हेतु हो, उसे 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास कहते हैं । जैसे, 'शब्द नित्य है, श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से, 'शब्दत्व' जाति की तरह'—इस अनुमान मे दिये गये 'श्रावणत्व' हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी हेतु 'कृतकत्व' विद्यमान है । उससे शब्द के नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व की सिद्धि होती है, जैसे—'शब्दोऽनित्य· कृतकत्वाद् घटवत्' अर्थात् शब्द अनित्य है जन्य होने से, घट की भाँति ।

विशेष—'सत्प्रतिपक्षः' का अर्थ है—'सन् प्रतिपक्षः विरोधी (हेतु) यस्य सः' । प्रस्तुत अनुमान मे 'श्रावणत्व' का प्रतिपक्ष हेतु 'कृतकत्व' विद्यमान है क्योकि जैसे पक्ष 'शब्द' मे श्रावणत्व अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियविषयत्व धर्म विद्यमान है, वैसे ही उसमे 'कृतकत्व' अर्थात् उत्पद्यमानत्व या जन्यत्व धर्म भी विद्यमान है, क्योकि शब्द पैदा होता है, यह सर्वानुभूत बात है । यह 'कृतकत्व' 'श्रावणत्व' का प्रतिपक्ष इसलिये है कि वह 'श्रावणत्व' से सिद्ध किये जाने वाले 'नित्यत्व' के विरोधी 'अनित्यत्व' को सिद्ध करता है । इस हेत्वाभास को सत्प्रतिपक्ष के अतिरिक्त 'प्रकरणसम' भी कहते हैं ।

असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्ध·, स्वरूपासिद्ध·, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । आश्रयासिद्धो यथा, गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् । अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव ।

अर्थ—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एव व्याप्यत्वासिद्ध के भेद से 'असिद्ध' हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है । इनमे आश्रयासिद्ध का उदाहरण है—'गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' । इस उदाहरण मे गगनारविन्द पक्ष है, सुरभित्व (सुगन्धित होना) साध्य है, अरविन्दत्व (कमल होना) हेतु है और सरोजारविन्द (सरोवर का कमल) दृष्टान्त है । यहाँ गगनारविन्द (आकाश-कमल) आश्रय है जो वस्तुतः है ही नही । जब वही नही तब उसमे

सुगन्ध या सौरभ कैसे रहेगा। इसी से उसकी सिद्ध करने वाला 'अरविन्दत्व' हेतु 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धो यथा, शब्दो गुणश्च चाक्षुषत्वात्। अत्र चाक्षषत्वं शब्दे नास्ति, शब्दस्य श्रावणत्वात्।

अर्थ—स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है—'शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्'। इस उदाहरण मे शब्द रूप पक्ष मे 'गुणत्व' (साध्य) की सिद्धि के लिये दिया गया 'चाक्षुषत्व' (चक्षुरिन्द्रिय का ग्राह्य विषय होना) शब्द मे है ही नही, क्योकि वह तो श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य है। अतः पक्ष मे हेतु के स्वरूपतः असिद्ध होने से, यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास है।

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व साध्यव्यापकत्वम्। यथा, पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वादित्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि—यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकत्वम्। यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद् वह्निमत्त्व व्याप्यत्वासिद्धम्।

अर्थ—उपाधि से युक्त हेतु को 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास कहते है। (यह उपाधि क्या है?) जो साध्य का व्यापक हो किन्तु साधन का अव्यापक हो उसे 'उपाधि' कहते हैं। साध्य के अधिकरण अर्थात् आश्रय मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी नही है, उसे 'साध्यव्यापक' कहते है। [जैसे, 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' मे साध्य धूम के अधिकरण या आश्रय पर्वत मे होने वाले (घटादि के) अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी घटादि से भिन्न 'आर्द्रेन्धनसयोग' साध्यव्यापक है]। इसी तरह साधनवान् अर्थात् हेतु के अधिकरण या आश्रय मे रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को 'साधनाव्यापक' कहते है। [जैसे, साधन वह्नि के आश्रय 'अयोगोलक' मे रहने वाले आर्द्रेन्धनसयोगाभाव का प्रतियोगी 'आर्द्रेन्धनसयोग' साधन का अव्यापक है]। इस प्रकार 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान मे आर्द्रेन्धनसयोग उपाधि है। जैसे, जहाँ (पर्वत मे) धूम है, वहाँ आर्द्रेन्धनसयोग है, यह साध्य 'धूम' मे आर्द्रेन्धनसयोग का व्यापकत्व हुआ।

एव, जहाँ (अयोगोलक मे) वह्नि है, वहाँ आर्द्रेन्धनसयोग नही है, यह साधन 'वह्नि' मे आर्द्रेन्धनसयोग का अव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार साध्य का व्यापक होने तथा साधन का व्यापक न होने से आर्द्रेन्धनसयोग 'उपाधि' है। इस उपाधि से युक्त होने के कारण 'वह्निमत्त्व' हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' नामक हेत्वाभास है।

विशेष—पीछे व्याप्ति की चर्चा करते हुये कहा जा चुका है कि उपाधि के कारण नही अपितु वस्तु-स्वभाव से जब एक वस्तु का नित्य साहचर्य दूसरी से होता है तो उसे व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध कहते है। जब वह सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर कृत्रिम या कल्पित होता है तो जिसके कारण वह सम्बन्ध कल्पित होता है, उसे उपाधि कहते है। जैसे, 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः' मे धूम का वह्नि के साथ साहचर्य-सम्बन्ध स्वाभाविक है, नित्य है, क्योकि वह्नि का कार्य होने के कारण जहाँ कही भी धूम होगा, वहाँ वह वह्नि के साथ ही होगा, उसके बिना नही। इसलिये वह्नि के साथ धूम के स्वाभाविक नित्य साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। इसके विपरीत "यत्र वह्निस्तत्र धूमः" मे वह्नि का धूम के साथ साहचर्य सर्वत्र एव सर्वदा न होकर उसी स्थान और समय मे होगा जिसमे वह्नि के साथ आर्द्रेन्धन का सयोग होगा। क्योकि वह्नि धूम का कारण न होने से उसके बिना भी रह सकता है, जैसे खूब तपाये हुये लोहे के गोले मे। इस प्रकार के कृत्रिम, कल्पित या उत्पादित साहचर्य के कारण को 'उपाधि' कहते है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'आर्द्रेन्धन-सयोग' उपाधि है।

यह उपाधि मुख्यतः दो प्रकार की होती है—निश्चित तथा सन्दिग्ध। उपर्युक्त आर्द्रेन्धन-सयोग रूप उपाधि प्रत्यक्ष होने के कारण 'निश्चित' उपाधि है। 'दे दत्त श्यामो मित्रातनयत्वात्' इस अनुमान-वाक्य मे देवदत्त की श्यामता मे जो मित्रा का पुत्र होना कारण कहा गया है, वह ठीक नही है। उसके सभी पुत्र तो श्याम नही है। अगर श्यामत्व की मित्रातनयत्व के साथ व्याप्ति होती अर्थात् नित्यसाहचर्य रूप स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो अवश्य ही उसके अन्य सभी पुत्र श्याम होते। अतः देवदत्त की श्यामता उसकी माता मित्रा के द्वारा गर्भावधि मे अत्यधिक मात्रा मे खाये गये हरे शाक इत्यादि के कारण हो सकती है। यह एक सम्भावना है। इसके अतिरिक्त गर्भस्थापन-काल मे धारण किया गया कृष्ण-नीलादि परिधान एव विशेष मानसिक भाव इत्यादि भी कारण हो सकते हैं। इस प्रकार शाकादि-परिणाम शङ्कित या सन्दिग्ध उपाधि है, क्योकि इसका प्रत्यक्ष से निश्चय नही होता।

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण पक्षे निश्चितः स बाधितः । यथा-वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति । अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम् ।

अर्थ—जिस हेतु के साध्य का पक्ष मे अभाव अन्य प्रमाण से निश्चित है, उसे 'बाधित' हेत्वाभास कहते है । जैसे, 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' मे द्रव्यत्व हेतु से सिद्ध किये जाने वाले 'अनुष्णत्व' का अभाव अर्थात् उष्णत्व स्पार्शन (अर्थात् त्वगिन्द्रय से उत्पन्न) प्रत्यक्ष से निश्चित है । इसलिये 'द्रव्यत्व' हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण 'बाधित' नामक हेत्वाभास है ।

॥ अनुमान-प्रमाण समाप्त ॥

उपमान-प्रमाण

उपमितिकरणमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । तत्करणं सादृश्यज्ञानम् । तथा हि—कश्चिद् गवयपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवय' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्ड पश्यति । तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्य' इत्युपमितिरुत्पद्यते ।

अर्थ—उपमिति के करण अर्थात् असाधारण कारण को 'उपमान' प्रमाण कहते हैं । 'उपमिति' है—सज्ञा (नामपद) और सज्ञी (नामी अर्थात् पदार्थ) के सम्बन्ध का ज्ञान । इस उपमिति का करण है सादृश्य-ज्ञान [अत. सादृश्य-ज्ञान ही 'उपमान' प्रमाण है] । जैसे—'गवय' नाम के अर्थ को न जानने वाला कोई पुरुष किसी वनवासी पुरुष से 'गवय (अर्थात् नीलगाय) गाय के सदृश होती है' ऐसा सुनकर, वन मे जाने पर उसके अर्थ का स्मरण करता हुआ गाय के सदृश पिण्ड को देखता है । उसके अनन्तर उसे 'यह पिण्ड (पशु) गवय है'—इसी पशु का नाम 'गवय' है—ऐसी उपमिति प्रमा उत्पन्न होती है ।

विशेष—वस्तुतः उपमान की प्रक्रिया के तीन अङ्ग हैं—(१) गो-सदृश पशु का प्रत्यक्ष-ज्ञान (२) 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ उस पशु के गोसादृश्य-विशिष्ट होने का ज्ञान (३) यह गोसदृश पशु 'गवय' इस नामवाचक पद का वाच्य है, अर्थात् इसी पशु का नाम 'गवय' है—एव विध वाच्यवाचकत्व सम्बन्ध के ज्ञान वाला तृतीय अङ्ग उपमिति है जो उपमान

प्रमाण का फल है। उपमान प्रमाण से ही यह ज्ञान होता है कि अमुक पशु 'गवय' है। शेष प्रथम दो अङ्गो मे से द्वितीय उपमान प्रमाण है। प्रथम अङ्ग अर्थात् वन मे जाने पर, गोसदृश पशुविशेष (गवय) का प्रत्यक्षज्ञान तो प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य ही है। किन्तु इसी ज्ञान से 'गवय या नीली गाय गोसदृश होती है' इस पूर्व-श्रुत वाक्य के अर्थ का स्मरण होता है जिसके होने के साथ ही 'यह पुरो-दृष्ट पशु गाय के सादृश्य से युक्त है, गो-सदृश है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। फिर इसी ज्ञान से यह अन्तिम ज्ञान कि 'इसलिये इसी पशु का नाम गवय है' उत्पन्न होता है। चूंकि यह (अन्तिम) ज्ञान सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होता है, इसलिये 'उपमिति' कहलाता है और (इससे पूर्व ही उत्पन्न) 'यह पशु-विशेष गाय के सदृश है' यह सादृश्यज्ञान इसको उत्पन्न करने के कारण 'उपमान' प्रमाण है।

मूल मे यह सभी बात स्पष्टतः कथित नही है। इसी से उपमान प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट रूप से बुद्धि मे आरूढ नही हो पाता।

॥ उपमान-प्रमाण समाप्त ॥

शब्द-प्रमाण

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः, यथा 'गामानयेति'। शक्तं पदम्। अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।

अर्थ—आप्त पुरुष के वाक्य को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं। 'आप्त' कहते हैं–सत्य कहने वाले को, जो वस्तु स्वरूपतः जैसी है उसे ठीक वैसी ही कहने वाले को; और 'वाक्य' कहते है—पदो के समूह को। जैसे 'गामानय' यह, 'गाम्' इस सुबन्त या सञ्ज्ञापद तथा 'आनय' इस तिङन्त या क्रिया-पद का समूह होने से, वाक्य है। 'पद' है—शक्ति का आश्रय, और 'शक्ति' है—'इस पद से यह अर्थ ग्राह्य है' इस प्रकार का ईश्वरसङ्केत या ईश्वरेच्छा।

विशेष—(1) 'शक्ति' का दूसरा नाम 'सङ्केत' भी है। नये कवि अपने किसी विशिष्ट अर्थ के लिये पूर्वतः अज्ञात विशिष्ट या नया शब्द गढ लेते है। वहाँ तो 'इस शब्द से यह अर्थ ग्राह्य है' इस प्रकार की इच्छा कवि की अपनी इच्छा है। अतः 'शक्ति' को केवल संकेत—जिसमे ईश्वर तथा मनुष्य, दोनों

के सङ्केत अन्तर्भूत है—ही कहना अधिक उचित है, ऐसी भी मान्यता कुछ आधुनिक विचारको की है। यो, मनुष्य की इच्छा के पीछे भी तो सर्वप्रेरक ईश्वर की ही इच्छा रहती है, इसलिये ईश्वरेच्छा या ईश्वर-सकेत मात्र को ही 'शक्ति' कहने मे सिद्धान्त की हानि नही होती।

(ii) न्यायशास्त्र की ही भाँति व्याकरण-शास्त्र मे भी 'पद' शक्ति का आश्रय होता है। किन्तु चूंकि वाक्य मे प्रयुक्त होने वाले ये पद 'नामो' के मूल रूप 'प्रातिपदिक' तथा क्रियाओ के मूलरूप 'धातुओ' मे क्रमश: 'सुप्' तथा 'तिङ्' प्रत्ययो को जोडने से बनते है, अतः इन्हे क्रमश. 'सुबन्त' (सुप् हो अन्त मे जिसके) तथा 'तिङन्त' (तिङ् हो अन्त मे जिसके) पद कहते है। इस प्रकार से पद द्विविध होते है।

आकाङ्क्षायोग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। आकाङ्क्षादिरहित वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्, आकाङ्क्षाविरहात्। वह्निनासिञ्चतीति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि-गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सन्निध्यभावात्।

अर्थ—आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि—ये तीन वाक्यार्थ-ज्ञान के हेतु अर्थात् सहकारी कारण है, (इनके विना वाक्यार्थ-बोध नही हो सकता)। एक पद का दूसरे के विना अन्वय-बोध न कराना (पदो की परस्पर) 'आकाक्षा' है। अर्थ का बाध न होना 'योग्यता' है। पदो का अविलम्ब उच्चारण करना 'सन्निधि' है। आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से रहित वाक्य प्रमाण (अर्थात् प्रमा या यथार्थ-ज्ञान का जनक) नही हो सकता। जैसे, 'गौरश्व' पुरुषो हस्ती' यह वाक्य पदो का समूह होने पर भी प्रमाण नही है, क्योकि इसमे प्रयुक्त पदो की परस्पर कोई आकाक्षा नही है। [वाक्यार्थ-बोध कराने के लिये क्रियापद को कारक-पद की और कारक-पद को क्रियापद की परस्पर आकाक्षा होती है। परन्तु उक्त वाक्य मे सभी कारक-पद ही है, क्रियापद कोई भी नही। इसलिये इसके चारो पद परस्पर निराकाक्ष हैं और इसी कारण से यह वाक्य प्रमाजनक न होने से प्रमाण नही है]।

'वह्निना सिञ्चति' यह वाक्य भी प्रमाण नही है, क्योकि वह्नि मे सेक-क्रिया की योग्यता नही है। [वह्नि मे जलाने की योग्यता तो है, किन्तु सींचने की योग्यता नही है, वह तो जल इत्यादि द्रवो मे ही है]।

एक प्रहर मे 'गाम्' और दूसरे प्रहर मे 'आनय'—इस प्रकार विलम्ब से पृथक्-पृथक् उच्चारित पद भी प्रामाणिक वाक्य नही हैं, क्योंकि उनमे परस्पर सान्निध्य या सन्निकटता नही है [और इस कारण से उनसे कोई अर्थ-बोध नही होता]।

वाक्यं द्विविधम्–वैदिक लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्।

अर्थ—वैदिक वाक्य तथा लौकिक वाक्य के भेद से वाक्य के दो प्रकार होते है। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सम्पूर्ण ही प्रमाण है। लौकिक वाक्य आप्त अर्थात् यथार्थ वक्ता द्वारा कहा गया हो तो प्रमाण है, आप्त से न कहा गया प्रमाण नही अपितु अप्रमाण है।

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं, तत्करणं तु शब्दः।

अर्थ—इस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान ही शाब्द ज्ञान अर्थात् शाब्दी प्रमा है, और उसका करण (वाक्य) शब्द' प्रमाण कहलाता है।

॥ शब्द-प्रमाण समाप्त ॥

बुद्धिनामक गुण के अनुभव एव स्मृति, इन दो भेदो मे से प्रथम के फिर दो भेद, यथार्थ तथा अयथार्थ, किये गये। इनमे यथार्थानुभव अर्थात् प्रमा की चार विधाये तथा उनके करणभूत चतुर्विध प्रमाणो का विवेचन-निरूपण हो चुका। इसके अनन्तर अब अयथार्थानुभव (अप्रमा) के तीन भेदो का निरूपण आरम्भ किया जा रहा है—

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः, संशयविपर्ययतर्कभेदात्।

अर्थ—अयथार्थ अनुभव अर्थात् अप्रमा के तीन भेद है–सशय अर्थात् सन्देह, विपर्यय अर्थात् भ्रम, एव तर्क।

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा।

अर्थ—एक धर्मी अर्थात् वस्तु मे परस्पर-विरुद्ध अनेक धर्मो के वैशिष्ट्य को विषय बनाने वाले ज्ञान को 'संशय' कहते है। जैसे, एक ही वस्तु मे (आकृति-सादृश्य, दृष्टिदोष, विप्रकृष्टत्व, अन्धकार इत्यादि के कारण)'यह स्थाणु

(पेड का ठूंठ) है या कोई पुरुष' इस प्रकार का (विरुद्धधर्मात्मक) ज्ञान 'सशय' है ।

विशेष—केशवमिश्र ने अपनी 'तर्कभाषा' मे संशय के तीन भेद बताये हैं जो इस प्रकार है— (१) समानधर्मदर्शनज (२) विप्रतिपत्तिज (३) असाधारणधर्मदर्शनज । इन तीनो मे ही जो निमित्त या कारण समान रूप से पाया जाता है, वह है विशेषादर्शन अर्थात् एक कोटि के निश्चयाक धर्म, वैशिष्ट्य या भेद का न दिखाई पडना । इस विषय मे तर्कभाषा की पक्तियाँ इस प्रकार है—"एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्श सशयः । स च त्रिविधः । विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मजश्चेति । तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनज, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।...... .. द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः । स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति ।... तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो, यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रसाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्वसशयः । तथा हि—'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् भूः किमनित्या, उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति सशयः ।"

यहाँ सशय के जो तीन प्रकार बतलाये गये हैं, उन तीनो मे ही 'विशेषादर्शने सति' इस अश का अन्वय होता है । न्यायसूत्र मे भी सशय के लक्षण मे 'विशेषापेक्षः' पद दिया गया है । 'विशेष' का अभिप्राय है 'एक कोटि का निश्चायक धर्म' । साराश यह है यदि (i) दो वस्तुओ के समान धर्म का ज्ञान हो, अथवा (ii) एक ही वस्तु के विषय मे विरुद्ध मतो का ज्ञान हो, अथवा (iii) किसी वस्तु के असाधारण धर्म का ज्ञान हो, किन्तु किसी एक कोटि के निश्चायक धर्म—'विशेष'—का ज्ञान न हो रहा हो तो सशय उत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है विरुद्ध दो कोटियो का आश्रय या आलम्बन लेने वाला ज्ञान । 'विप्रतिपत्ति' अर्थात् विपरीत या विरुद्ध प्रतिपत्ति (ज्ञान) । न्यायभाष्यकार ने इसे 'व्याहतमेकार्थदर्शनम्'—एक ही पदार्थ या वस्तु के विषय मे व्याहत अर्थात् परस्पर-विरुद्ध दर्शन—कहा है । जैसे पूर्वोक्त उदाहरण मे शब्द के नित्यत्वानित्यत्व के विषय मे किसी मध्यस्थ के मन मे सशय इस कारण से उत्पन्न होता है कि मीमासक शब्द को नित्य कहता है जब कि न्याय उसे उत्पन्न होने के कारण अनित्य मानता है, दोनो दर्शनो का एक ही शब्द के विषय मे विरुद्ध मत है ।

मिथ्याज्ञान विपर्ययः। यथा, शुक्तौ रजतमिति।

अर्थ—मिथ्याज्ञान को 'विपर्यय' या भ्रम कहते हैं। जैसे, शुक्ति (सीप) मे 'यह रजत (चाँदी) है' इस प्रकार का ज्ञान।

विशेष—'मिथ्याज्ञान' यह जो विपर्यय का लक्षण ग्रन्थकार ने दिया है, उसे समझाया नही है। उसे मूल ग्रन्थ मे केवल दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। ऐसी स्थिति मे विपर्यय क्या है, यह जिज्ञासा पाठक के मन मे बनी रहती है। इसका समाधान तर्कभाषा मे दिये लक्षण से सरलतया हो जाता है। वह इस प्रकार है—'विपर्ययस्तु अतस्मिस्तद्ग्रह भ्रम इति यावत्, यथा पुरोवर्तिनि अरजते शुक्तिकादौ रजतारोप· इद रजतमिति'। अर्थात् अन्य वस्तु मे (अतस्मिन्) उस वस्तु का ज्ञान (तद्ग्रह) 'विपर्यय' है। यही 'भ्रम' है। जैसे सामने स्थित रजत-भिन्न सीपी इत्यादि मे 'यह रजत है' इस प्रकार रजत की प्रतीति या ज्ञान। तर्कभाषा के प्रस्तुत लक्षण से 'मिथ्याज्ञान' भूत विपर्यय का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। फिर उसका लोक-प्रचलित 'भ्रम' पर्याय दे देने से वह और भी स्पष्ट हो गया है।

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः[1]। यथा, 'यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्।

अर्थ—व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप को 'तर्क' कहते है। जैसे, यदि वह्नि नही होगा तो धूम भी नही होगा। यहाँ वह्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक है। अत. व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप होने के कारण यह 'तर्क' का उदाहरण है।

विशेष—ग्रन्थकार के लक्षण का तात्पर्य यह है कि जब किसी के द्वारा पक्ष मे व्याप्य का आरोप कर लेने अर्थात् व्याप्य की सत्ता मान लेने पर दूसरे के द्वारा उसमे व्यापक का आरोप कर दिया जाय अर्थात् व्यापक की सत्ता अनिवार्यतः दिखा दी जाय तो उसे 'तर्क' कहा जाता है। पर्वत (पक्ष) मे धूम दिखाई पडने से अग्नि का सन्देह होने पर यदि कोई उसे अग्निरहित मान

---

१. व्याप्यस्य य आरोप आहार्यज्ञान (बाधकालीनेच्छाजन्य), तेनापाद्यो यो व्यापकस्यारोपः, स तर्क इत्यर्थ.।—नृसिंहदेवशास्त्रि-कृत बालबोधिनी, पृष्ठ ७५

ले—उसमे अग्नि के अभाव का आरोप करने लगे—तो उसके प्रति दूसरे के द्वारा अग्न्यभाव की स्थिति मे पर्वत मे धूमाभाव का आरोप करना—यदि पर्वत अग्नि-रहित होता तो धूमरहित अवश्य होता (क्योकि धूम अग्नि का कार्य होने से उसके अभाव मे हो नही सकता, कारण के अभाव मे कार्य कहाँ रहता है ?)—तर्क है। पर्वत मे धूम के रहते उसमे अग्निराहित्य मानने पर अर्थात् अग्न्यभाव का आरोप करने पर, धूमाभाव का अनिवार्यत: आरोप होगा जो तथ्य के विरुद्ध होने से अनिष्ट का प्रसङ्ग (आरोप) है। यह अनिष्ट-प्रसङ्ग ही तर्क है, जैसा कि तर्कभाषाकार ने 'तर्क' के अपने लक्षण मे स्पष्ट कहा है—'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्ग, स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्ट-व्यापकप्रसञ्जनरूप:'।

स्मृतिरपि द्विधा—यथार्था अयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था।

अर्थ—स्मृति के भी दो भेद है—यथार्थ स्मृति तथा अयथार्थ स्मृति। प्रमा से उत्पन्न स्मृति यथार्थ, और अप्रमा से उत्पन्न अयथार्थ होती है।

विशेष—'स्मृति' का लक्षण (एव उसका विवेचन) ग्रन्थकार पहले दे चुके हैं। अत: यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति नही की, केवल उसके दो भेद देकर सन्तोष कर लिया। यो, 'स्मृति' दर्शन और मनोविज्ञान का बडा ही महत्त्वपूर्ण विषय है, विशेषत: योग दर्शन का। इसका स्वरूप जितना योग मे स्पष्टत: वर्णित है, उतना अन्यत्र नही। योगसूत्र १.११ मे 'स्मृति' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'अनुभूतविषयासम्प्रमोष: स्मृति:'। अर्थात् अनुभूतविषय का चित्त से प्रमोष (चोरी)[1] न हो जाना, उसका चित्त से गायब या अनुपस्थित न हो जाना अपितु उसमे उपस्थित रहना 'स्मृति' है। चित्त-भूमि मे अनुभवो की यह उपस्थिति तज्जन्य सस्कारो से होती है। ग्राह्यविषय तथा ज्ञान, दोनो के आकार मे भासित होने वाला विषयानुभव उसी प्रकार के सस्कार आरम्भ या उत्पन्न करता है। अपने अभिव्यञ्जक से उद्‌बुद्ध हुआ यह सस्कार विषय तथा अनुभव की उभयात्मिका स्मृति को जन्म देता है। उसमे ज्ञानाकार-प्रधान अश तो अनुभव है, और अनुभूत विषयाकार-प्रधान अश स्मृति है। यह प्रक्रिया व्यासदेव ने प्रस्तुत योगसूत्र के अपने भाष्य मे स्पष्ट की है।

---

१. मुष. स्तेये (चौर्ये इत्यर्थ:) इति पाणिनीयधातुपाठ:।

जैसे तर्कसंग्रहकार ने यथार्थ तथा अयथार्थ रूप से स्मृति के दो भेद किये है, उसी प्रकार योगभाष्यकार ने भी 'भावितस्मर्तव्या' और 'अभावितस्मर्तव्या' नाम से उसके दो भेद किये है। इनमे प्रथम स्वप्नकालीन है और द्वितीय जाग्रत्कालीन—'सा च द्वयी, भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावित-स्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति'। स्वप्नकालिक स्मृति 'भावित' अर्थात् कल्पित अयथार्थ—विषय वाली तथा जाग्रत्कालिक 'अभावित' अर्थात् अकल्पित—यथार्थ—विषय वाली होती है। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक शङ्का यह होती है कि क्या जागरण-काल की सभी स्मृतियाँ यथार्थ होती है। इसका समाधान यह है कि यह 'अनुभूतविषयासम्प्रमोष' लक्षण वाली यथार्थ या शुद्ध स्मृति का ही वर्णन या विवरण है। यदि जागरण काल मे शुद्ध (ठीक) स्मृति नही हो रही है तो वह स्मृति नही अपितु 'विपर्यय' (भ्रम) वृत्ति है। इस प्रकार योगभाष्यानुसार अयथार्थ स्मृति स्वप्न-कालिक ही होती है क्योकि स्वप्नकाल मे स्मरण की जाने वाली घटनाये एव वस्तुये यथातथ या यथाभूत अर्थात् जैसा-की-वैसा नही होती। कही की ज्ञात हुई वस्तु किसी भिन्न परि-प्रेक्ष्य मे एव भिन्न घटना-क्रम मे स्मृति होती है। इस याथातथ्य का परिवर्तन मानव-मन की ही उद्भावना से होता है।

सर्वेषामनुकूलवेदनीय सुखम्।

अर्थ—जो सभी को 'अनुकूल है' इस रूप मे वेद्य है, उसे सुख कहते है।

विशेष—लक्षण मे 'सर्वेषाम्' पद शत्रुदु:ख-विषयक अतिव्याप्ति दूर करने के लिये ग्रहण किया गया है। शत्रु का दु:ख भी अनुकूल-वेदनीय है, अतः 'सर्वेषाम्' पद न देने से लक्षण की उसमे अतिव्याप्ति अवश्य होगी। 'सर्वेषाम्' से शत्रु का भी ग्रहण होगा और उसके भी दु:ख के अनुकूल-वेदनीय नही अपितु प्रतिकूलवेदनीय ही होने से उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी।

'सुखम्' का व्युत्पत्यात्मक अर्थ है—'सु सुन्दर शोभन वा खेभ्यः इन्द्रियेभ्य इति'। अर्थात् जो इन्द्रियो के लिये शोभन हो, उन्हे अच्छा अर्थात् अनुकूल लगे, वह 'सुख' है। 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि अनुभव तो सभी का है, एव इसका असाधारण कारण धर्म या शुभ कर्म है। अतः 'सुख' का 'धर्ममात्रासाधारण-कारणो गुण. सुखम्' ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है। न्यायसूत्रकार ने

सूत्र १।१।६ मे कथित बारह प्रमेयो मे 'फल' नामक दशम प्रमेय से शुभाशुभ कर्मों अर्थात् धर्म एव अधर्म से उत्पन्न होने वाले सुख एव दुःख रूप शुभाशुभ फलो का ग्रहण किया है। यह बात 'फल' के लक्षण-सूत्र १।१।२० से स्पष्ट है जो इस प्रकार है—'प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थ. फलम्' ।

प्रतिकूलवेदनीय दु.खम् ।

अर्थ—जो (सभी को) 'प्रतिकूल है' इस रूप मे वेद्य है, उसे दु.ख कहते है।

विशेष—यहाँ भी पूर्ववत् 'सर्वेषाम्' पद का ग्रहण किया जाना चाहिये ताकि प्रतिकूल-वेदनीय शत्रु-सुख मे 'दु ख' के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। जैसे 'मै सुखी हूँ' इत्यादि का अनुभव सभी को होता है, वैसे ही 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव भी सभी को होता है, एवं इसका असाधारण कारण अधर्म या अशुभ कर्म है। अतः 'दु ख' का 'अधर्ममात्रासाधारणकारणो गुणो दुःखम्' ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है। जैसा 'सुख' के प्रसङ्ग मे अभी पहले कहा जा चुका है, 'फल' नामक दशम प्रमेय से 'सुख' के साथ 'दुःख' का भी ग्रहण किया गया है। किन्तु 'दुःख' का ग्रहण 'फल' नामक दशम प्रमेय के अतिरिक्त 'दुःख' नामक एकादश प्रमेय के रूप मे पृथक् या स्वतन्त्र रूप से भी किया गया है। 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन.प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु.खापवर्गास्तु प्रमेयम्' इस न्याय० १।१।६ मे अन्य ग्यारह प्रमेयो से पृथक् 'दुःख' का ग्रहण स्वतन्त्र रूप से हुआ है। एतदनुसार ही इसका लक्षण १।१।२१ मे प्रस्तुत हुआ है जो इस प्रकार है—'बाधनालक्षण दुःखम्'। अर्थात् बाधा, पीडा या ताप दुःख का लक्षण है, उसका स्वरूप है। यह तो कहने की बात ही नही कि बाधा या पीडा सभी के लिये प्रतिकूल-वेदनीय है, सभी को वह प्रतिकूल प्रतीत होती है।

'दुःख' के सम्बन्ध मे एक मौलिक प्रश्न यह उठता है कि इस (दु.ख) का ग्रहण तो सुख के साथ 'फल' नामक दसवे प्रमेय के अन्तर्गत किया जा चुका, अब पुनः इसका पृथक् या स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किसलिये किया जा रहा है? क्या यह 'दुःख' नामक ग्यारहवाँ प्रमेय दसवे प्रमेय मे सुख के साथ परिगणित दुःख से भिन्न है, और यदि है तो किस रूप मे? द्वितीय प्रश्न के उत्तर में कहना है कि यह 'दु.ख' नामक ग्यारहवाँ प्रमेय दशम मे परिगणित दुःख से

इस रूप मे भिन्न है कि यह दु ख के साथ कथित 'सुख' नामक 'फल' का भी वाचक है। इतना ही नही, यह उस 'शरीर', 'इन्द्रिय' और 'अर्थ' का भी वाचक है जो इससे पूर्व 'फल' के प्रकरण मे सुख-दु ख के भोग मे उसके आयतन (क्षेत्र या अधिष्ठान), साधन तथा विषय होने से गौण फल कहे जा चुके हैं। इस तथ्य का समर्थन १।१।२१ सूत्र की भाष्यकार-कृत अवतारणा से भी होता है। १।१।२० सूत्र के भाष्य मे सुख-दु ख तथा शरीरेन्द्रियविषयादि को क्रमशः प्रधान तथा गौण 'फल' बता चुकने के अनन्तर, प्रस्तुत सूत्र के पूर्व वे कहते है—'अथैतदेव' जिसका सूत्र के साथ मिला कर यह अर्थ हुआ कि यही अर्थात् उपर्युक्त सुखदु खानुभव रूप मुख्य तथा शरीरादि रूप गौण 'फल' ही 'दु ख' नामक ग्यारहवाँ प्रमेय है, जिसका लक्षण या स्वरूप है पीडा-ताप। इससे यह बात स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दु.ख प्रस्तुत 'दु.ख' का केवल एक अश है क्योकि उसके अतिरिक्त सुख तथा शरीरेन्द्रियादि भी उसमे गृहीत या समाविष्ट है। ऐसा किस कारण से किया गया ? इसे बताते हुये भाष्यकार कहते हैं कि पीडा रूप दु ख से अनुविद्ध (व्याप्त), उससे अनुषक्त (नित्य सम्बद्ध) अर्थात् उससे पृथक् या विभक्त न होकर रहने वाला सुख भी दु.ख के सम्बन्ध से दु ख-रूप ही है।[1] जब सुख भी दुःख से सदैव सम्पृक्त या मिश्रित होने के कारण दु.ख ही हुआ, तब उसके भोग का आयतन शरीर तथा साधन इन्द्रियाँ भी दु ख ही हुईं। आगे इस प्रकार से समस्त सुखो एव शरीरेन्द्रियविषयादि पदार्थों के दु ख रूप से वर्णन करने का प्रयोजन बताते हुये भाष्यकार कहते है कि इस प्रकार विचारक पुरुष 'ससार मे जो कुछ भी है, सब दु ख से ही व्याप्त है' ऐसा अनुभव करता हुआ, उस दु ख से मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा से जन्म मे ही असह्य दु ख देखता हुआ सबसे खिन्न हो जाता है, खिन्न होकर धीरे-धीरे विरक्त हो जाता है एव विरक्त हो जाने पर (आत्मज्ञान प्राप्त करके) मुक्त हो जाता है।[2] भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि लौकिक सुख और उसके साधनो मे, या यो कहा जाय कि समस्त जीवन मे ही, दु ख की भावना क्रमश. निर्वेद, वैराग्य, (ज्ञान) तथा अन्ततः तद्द्वारा मोक्ष (अपवर्ग) प्राप्त करने का अमोघ-अचूक साधन है।

---

१. तयाऽनुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति।—न्यायभाष्य १।१।२१, पृ० ४५०

२ द्रष्टव्य सोऽयं सर्वं दु.खेनानुविद्धमिति पश्यन् दु.ख जिहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते, निर्विण्णो विरज्यते, विरक्तो विमुच्यते।—वही, पृ० ४५०

सुख एव उसके साधनो मे दु:ख की भावना करने का स्पष्ट कथन भाष्य-कार इसके पूर्व प्रमेयो का सामूहिक रूप से कथन करने वाले सूत्र १।१।९ के भाष्य मे भी कर चुके हैं। वहाँ उन्होने स्पष्ट कहा है कि 'दु.ख' कहने से अनु-कूल-वेदनीय सुख का प्रत्याख्यान या निषेध करना अभिप्रेत नही है अपितु जन्मारम्भ से ही सुख एव उसके समस्त साधनो के दु ख-सम्पृक्त (दु.ख-मिश्रित) होने के कारण, समाधि (एकाग्रता) की स्थिति मे 'यह सब दु:ख ही है' इस प्रकार की भावना करने के लिये मुमुक्षु को यह दु.ख-नामक ग्यारहवाँ प्रमेय सूत्रकार द्वारा यहाँ उपदिष्ट है। समाहित व्यक्ति ही 'सम्पूर्ण लौकिक सुखदु:ख-मिश्रित है' ऐसी भावना करता हुआ विषयो से उद्विग्न होता है, उद्विग्न होने से उसके मन मे वैराग्य उत्पन्न होता है, और विरक्त होने पर उसे (ज्ञान की प्राप्ति एव तद्द्वारा) अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है।[1]

वार्तिककार ने १।१।९ तथा १।१।२१, इन दोनो ही सूत्रो की अपनी व्याख्या मे भाष्यकार के ही दु:ख-विषयक मत का पल्लवन तथा समर्थन किया है। उनका कथन है कि सुख-मात्र एवं उसके साधन मुख्य रूप से अर्थात् वस्तुतः दु:ख हैं, ऐसा नही है। वस्तुतः उनमे वैराग्य उत्पन्न करके अपवर्ग प्राप्त करवाने के विचार से उनमे दु.ख की भावना करने का उपदेश दिया गया है। क्योकि यदि सुख न होगा तो उसका साधन-भूत धर्म व्यर्थ (निष्फल) हो जायगा। दु:खाभाव को उसका फल कहना उचित नही, क्योकि तब तो धर्म के अभावा-त्मक फल देने वाला होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, और लोक मे दृष्टिगत होने वाली प्रवृत्ति-द्विविधता भी नही उपलब्ध होगी। कोई-एक हित की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होता है, तो कोई-दूसरा अहित या अनिष्ट के परिहार के लिये। हित का अभाव होने से प्रवृत्ति का यह द्वैविध्य लोक मे नही रहेगा।[2] सक्षेप मे यही बात वार्तिककार ने १।१।९ के वार्तिक मे भी कही है, जो उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है :—

---

१. द्रष्टव्य—दु:खमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्या-नम्। किं तर्हि ? जन्मन एवेद ससुखसाधनस्य दु:खानुषङ्गाद् दु.खेनाविप्रयोगाद् विविधबाधनायोगाद् दु.खमिति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति, भावयन् निर्विद्यते निर्विण्णस्य वैराग्य, विरक्तस्यापवर्ग इति।—वही, पृ० ३८२

२. द्रष्टव्य—सर्व स्वरूपतो दु खमिति केचित्। न, प्रत्यक्षविरोधात्। न हि प्रत्यक्ष सुख शक्य प्रत्याख्यातुमिति।...यदि च सुखं न स्याद्, धर्मवैयर्थ्यम्।

"सुख पुन. कस्मादस्मिन् नोक्तम् ? किमभावादाहोस्विदन्यतः उपलब्धेरिति ? न तावदभावात्, प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् । प्रत्यात्ममेव वेदनीय सुखमुपलभ्यमान न शक्य नास्तीति वक्तुम् । अनभिधान तु वैराग्यज्ञापनार्थम् । कथम् ? नाय मोक्षमाण सर्वं दु.ख भावयेदिति तस्य दुःखभावनार्थं सुखस्यानपदेशः ।" (पृ० ३८४) ।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा (शरीर एवं मन) मे अनुभूत होने से सुख की उपलब्धि होती है । अतः यह बात नही कही जा सकती कि वह नही है । उसका कथन न किया जाना वैराग्य-ज्ञापनार्थ है । यह कैसे ? 'लोक मे सभी कुछ दु खमय है', यह भावना मुमुक्षु नही करेगा, इस कारण से उसके दु.खभावनार्थ सुख का उपदेश नही किया गया । दु.ख की भावना से विषयो से निर्वेद, उससे त्रैलोक्यविषयक तृष्णा का विच्छेद या प्रहाण, उससे पुनर्भव के साधनो का अनुपादान, उससे तत्काल-पर्यन्त अनुत्पन्न धर्माधर्म की आगे अनुत्पत्ति तथा उत्पन्न धर्माधर्म का भोग द्वारा प्रक्षय होने से भावी जन्ममरणादि दु:ख का विध्वस रूप अपवर्ग साधक (प्रमाता) प्राप्त कर लेता है, क्योकि उस जन्ममरणादि रूप ससार का बीज तो यह धर्माधर्म ही है जो अब नही रह गया है । इस प्रकार यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि फल के रूप मे सुख-दु.ख, दोनो के गृहीत हो जाने पर 'दुःख' का पृथक् प्रमेय के रूप मे पुनर्ग्रहण समाहित होकर समस्त लोक, उसके सारे सुखो एव सुख-साधनो मे दुःख की भावना करने के लिये किया गया है, न कि धर्म के फल-भूत सुख का निषेध या प्रत्याख्यान करने के लिये ।

इच्छा कामः । क्रोधोद्वेषः । कृतिः प्रयत्नः ।

अर्थ—काम को इच्छा, क्रोध को द्वेष, तथा कृति (चेष्टा) को प्रयत्न कहते है ।

विशेष—'आत्मा' नामक द्रव्य मे न्यायदर्शन, आठ विशेष या असाधारण गुण मानता है । ये आठ गुण बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म तथा

किं कारणम् ? सुखसाधन धर्म इति, सुख च नास्तीति व्यर्थो धर्मः । दुःखप्रतिषेधः फलमस्येति न युक्तम्, धर्मस्याभावफलत्वप्रसङ्गात् । अभावफलो धर्म इति स्यात् । प्रवृत्तिद्वैतं च लोके दृष्ट, तन्न स्यात् । हितमाप्स्यामीत्येकः प्रवर्तते, अनिष्ट हास्यामीत्यपरः । हितस्याभावात् प्रवृत्तिद्वैत लोके न स्यात् ।—न्यायवार्तिक १।१।२१, पृ० ४५० :

अधर्म हैं। इनमे प्रथम तीन का लक्षण-विवेचन हो चुका। मध्य के तीन का लक्षण सर्वविदित पर्यायो अर्थात् समानार्थक शब्दो द्वारा अत्यन्त सक्षेप मे उपर्युक्त पक्ति मे प्रस्तुत किया गया है। पर्यायात्मक लक्षण 'असाधारण धर्म-कथन' रूप लक्षण की अपेक्षा हीन कोटि का होता है क्योकि वस्तु-स्वरूप का वास्तविक एवं स्पष्ट उद्घाटन उसी से होता है। इसके अतिरिक्त 'इच्छा' गुण के लक्षण मे एक अतिरिक्त दोष यह भी है कि इसमे इस सामान्य नियम का उल्लङ्घन दिखाई पडता है कि लक्षण-वाक्य मे लक्षण पहले और लक्ष्य बाद मे गृहीत होता है। इस नियम का अनुसरण 'द्वेष' तथा 'प्रयत्न' के लक्षण-वाक्यो मे तो दृष्टिगोचर होता है परन्तु 'इच्छा' के लक्षण-वाक्य मे नही। उमे 'कामः इच्छा' ऐसा होना चाहिये। इसलिये इसका अर्थ करते समय प्रस्तुत क्रम-भङ्ग को ठीक कर दिया गया है।

पर्याय-कथन रूप लक्षण की ऊनता (कमी) की पूर्ति टीकाकारो ने की है। जैसे, 'इच्छा' का लक्षण 'प्रवृत्तेः साक्षादनुकूलत्वम्' किया है। यह दो प्रकार की है—फलेच्छा, उपायेच्छा। सुखादि फल तथा यज्ञादि उपाय है। इसी प्रकार द्वेष का लक्षण 'निवृत्तेः साक्षादनुकूलत्वम्' किया है। नृसिंहदेव शास्त्री ने अपनी बालबोधिनी मे 'द्वेष्टीत्यनुभवसिद्धद्वेषत्वजातिमान् द्वेष' ऐसा लक्षण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार उन्होने इच्छा का 'इच्छात्वजातिमती इच्छा' यह लक्षण दिया है। प्रयत्न का भी 'प्रयत्नत्वजातिमान् प्रयत्नः' लक्षण दिया है। ये तीनो ही लक्षण सर्वानुभव-सिद्ध द्वेषत्व, इच्छात्व एव प्रयत्नत्व जातियो के आधार पर किये जाने से पर्याप्त स्पष्ट और सुबोध है।

विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

अर्थ—वेद-विहित (त्यागादि) कर्म से उत्पन्न गुण-विशेष को धर्म कहते है। वेद-निषिद्ध (सुरापान आदि) कर्म से उत्पन्न गुण-विशेष को अधर्म कहते हैं।

विशेष—'धर्म' के लक्षण की 'अधर्म' मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये उसमे 'विहित', तथा यागादि क्रिया मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'कर्म-जन्य' पद दिये गये हैं। इसी प्रकार 'अधर्म' के लक्षण की 'धर्म' मे अतिव्याप्ति दूर करने के लिये उसमे 'निषिद्ध' पद दिया गया है। इन धर्माधर्मों की एक मिलित सज्ञा अर्थात् संयुक्त नाम 'अदृष्ट' है। ये वासनात्मक सस्कार-विशेष से उत्पन्न होते हैं।

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः । बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः, नित्या अनित्याश्च । नित्या ईश्वरेस्य, अनित्या जीवस्य ।

अर्थ—(पूर्वोक्त) बुद्धि इत्यादि आठ केवल आत्मा के विशेष गुण हैं, आत्ममात्र-वृत्ति हैं । उनमे बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न दो-दो प्रकार के है—नित्य तथा अनित्य । ईश्वर के बुद्धि-इच्छा-प्रयत्न गुण नित्य हैं, जीव के अनित्य है ।

संस्कारस्त्रिविधः, वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः । अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्ति । अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः, कटादिपृथिवीवृत्तिः ।

अर्थ—वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक के भेद से सस्कार तीन प्रकार का होता है । उनमे वेग नामक सस्कार पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु—इन चार तथा मन मे रहता है । जो अनुभव से उत्पन्न होकर स्मृति को उत्पन्न करता है, वह 'भावना' नामक सस्कार है । यह सस्कार केवल आत्मा मे रहता है । अन्य अवस्था को प्राप्त पदार्थ को फिर वही (पहले की) स्थिति प्राप्त कराने वाला संस्कार 'स्थितिस्थापक' नामक सस्कार है । यह संस्कार चटाई आदि पृथिवी (पार्थिव पदार्थों) मे रहता है ।

विशेष—सस्कार चौब्बीस गुणो मे अन्तिम है । इस प्रकार सस्कारत्व गुणत्व की व्याप्य जाति हुई और गुणत्व संस्कारत्व की व्यापक जाति । तब फिर 'सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् संस्कारः' इस प्रकार 'सस्कार' गुण का लक्षण किया जा सकता । सक्षेप मे 'संस्कारत्वजातिमान् सस्कार' इतना ही लक्षण होगा ।

त्रिविध सस्कारो मे 'वेग' नामक सस्कार का लक्षण 'द्वितीयादिपतनासमवायिकारण वेगः' है । वस्तुओ का पतन सर्वप्रथम उनके गुरुत्व के कारण होता है, किन्तु उसके बाद का सारा द्वितीय-तृतीय इत्यादि पतन प्रथम पतन से उत्पन्न 'वेग' के .कारण होता है । इस प्रकार 'वेग' का उपर्युक्त लक्षण सर्वथा निर्दोष है । 'क्रियाजन्यत्वे सति क्रियाजनकत्वम्' यह भी वेग का लक्षण है । 'क्रियाजन्य' कहने से गुरुत्व इत्यादि तथा 'क्रियाजनक' कहने से विभाग

इत्यादि गुणो मे इसकी अतिव्याप्ति नही होती। यह वेग कही तो अपने कारण के गुण से उत्पन्न होता है और कही कर्म से।

भावनाख्य संस्कार केवल आत्मा मे रहता हुआ सदृश वस्तुओ के दर्शन अदृष्ट तथा चिन्ता इत्यादि सहकारियो से उद्‌बुद्ध होने पर ही पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति उत्पन्न करता है। ये सहकारी आत्माश्रित संस्कार-भावना को उद्बुद्ध करते हैं, एव उद्बुद्ध होकर ही 'भावना' सस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है। 'अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिजनकत्वम्' इसका निर्दोष लक्षण है। बुद्धि से लेकर अधर्म पर्यन्त आठ तथा प्रस्तुत भावनाख्य संस्कार—ये आत्मा के नौ विशेष गुण हैं।

स्थितिस्थापक संस्कार के कारण ही हस्त इत्यादि से खीची जाने पर नीचे लटक आई वृक्ष की शाखा हस्त-मुक्त होने पर पुनः पूर्ववत् अपने स्थान पर स्थापित हो जाती है। इसी प्रकार धान इत्यादि कूटने वाली ढेकी, पिछले भाग को पैर से नीचे दबाने पर अगले (मुसल वाले) भाग मे ऊपर उठ जाती है। फिर पैर हटा लेने पर जो उठा भाग अपनी पूर्व स्थिति में स्थापित हो जाता है, वह भी इसी स्थितिस्थापक सस्कार के कारण। लपेटी हुई चटाई खोलकर फैला दी जाने के बाद छोड दी जाने पर जो पुनः पूर्ववत् लपेट उठती है वह भी इसी सस्कार के कारण। आरोपित प्रत्यञ्चा (डोरी) वाले धनुष की डोरी उतार देने पर वह जो फिर पूर्ववत् स्थित हो जाता है, वह भी इसी स्थितिस्थापक संस्कार के कारण।

॥ गुण-निरूपण समाप्त ॥

अथ कर्म-प्रकरणम्

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम् अधोदेशसयोग-हेतुरवक्षेपणम्। शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्रकृष्ट-संयोग हेतुः प्रसारणम्। अन्यत् सर्वगमनम्। पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोमात्रवृत्ति।

अर्थ—'कर्म' का स्वरूप है चलना (हिलना, गति) अर्थात् क्रिया। उर्ध्व स्थान मे होने वाले सयोग के कारण को 'उत्क्षेपण' कहते हैं। अधोदेश (नीचे के स्थान) मे होने वाले सयोग के कारण को 'अपक्षेपण' कहते हैं। शरीर के निकट के स्थान मे होने वाले संयोग के कारण को 'आकुञ्चन' कहते है। शरीर

से दूर के स्थान मे होने वाले संयोग को 'प्रसारण' कहते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की गतियो या क्रियाओ को 'गमन' कहते हैं।

विशेष—(i) 'गमन' के ही अन्तर्गत भ्रमण (घूमना या चक्कर काटना), रेचन (खाली करना), स्यन्दन (प्रवहण, प्रस्रवण, बहना), ऊर्ध्वज्वलन (अग्नि का), तथा तिर्यक् अर्थात् तिरछा गमन (वायु का) भी है, जैसा कि अधोलिखित कारिका मे कहा गया है—

'भ्रमण रेचन स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गगनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥'

(ii) मूल मे 'कर्म' का स्वरूप या लक्षण 'चलना'—क्रिया—बताया गया है। इसके अतिरिक्त 'सयोगभिन्नत्वे सति सयोगासमवायिकारणं कर्म' यह भी लक्षण है जो 'पदार्थोद्देशप्रकरण' मे पीछे दिया जा चुका है। इसका अर्थ वही द्रष्टव्य है। कर्म का यह लक्षण उसके स्वरूप को विशेष रूप से उद्घाटित करने के कारण अधिक अच्छा है। वस्तुत: 'कर्म' उसी को कहते है जो 'गुण' की तरह एकमात्र द्रव्य मे ही रहता है, द्रव्य का पूर्वदेश से विभाग करके उत्तर देश के साथ सयोग उत्पन्न करता है, तथा विभाग-सयोग को उत्पन्न करने मे केवल अपने समवायिकारण द्रव्य की सहायता लेता है। इस प्रकार 'कर्म' सयोग का असमवायि कारण है।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधं परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

अर्थ—जो नित्य और एक हो, तथा अनेक व्यक्तियो मे अनुगत हो अर्थात् अनुवृत्ति-प्रत्यय का हेतु हो, वह सामान्य (जाति) है। यह द्रव्य, गुण तथा कर्म मे रहता है। पर तथा अपर के भेद से यह दो प्रकार का होता है। (द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनो मे रहने वाली) सत्ता पर सामान्य कहलाती है। (द्रव्य-मात्र मे रहने वाली) द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य कहलाता है। ['आदि' पद से गुणमात्र मे रहने वाला 'गुणत्व', कर्म-मात्र मे रहने वाला 'कर्मत्व' तथा उनसे भी अपर जैसे घटत्व-वृक्षत्व, रूपत्व-रसत्व आदि तथा-उत्क्षेपणत्व-अपक्षेपणत्व आदि सामान्यो का ग्रहण होता है]।

विशेष—सामान्य का ही दूसरा नाम 'जाति' है। 'पर' वह है जो अधिक देश मे रहे और 'अपर' वह है जो न्यून देश मे रहे—'परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्, अपरत्व च न्यूनदेशवृत्तित्वम्'। जैसे, 'द्रवत्व' पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्यो मे रहने के कारण केवल पृथिवी, या केवल जल आदि मे रहने वाले पृथिवीत्व, जलत्व आदि की अपेक्षा अधिक देश या स्थान मे रहने के कारण 'पर सामान्य' है, एवं उसकी अपेक्षा कम देश मे रहने वाले पृथिवीत्व, जलत्व आदि 'अपरसामान्य' हैं। 'सामान्य' का लक्षण है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्'। अर्थात् जो नित्य हो, एव अनेक मे समवाय सम्बन्ध से वर्तमान हो, वह 'सामान्य' नामक पदार्थ है। परमाणु द्रव्य नित्य तो होते हैं परन्तु वे अनेकसमवेत नही होते। इसके विपरीत द्वयणुक, त्र्यणुक से लेकर महाभूत पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु अनेक मे समवेत होने पर भी नित्य नही होते। इसी प्रकार गुण एव कर्म भी नित्य नही अपितु उत्पद्यमान होने से अनित्य होते हैं। इस प्रकार नित्यानित्य द्रव्य, गुण एवं कर्म—इन तीनो मे ही इस लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी। समवाय और अभाव पदार्थ भी समवाय सम्बन्ध से किसी मे नही रहते। न्याय वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार भूतल मे रहने वाला घटाभाव नित्य है, एव अनेक वस्तुओ मे, अर्थात् जहाँ-जहाँ घटाभाव रहता है उन सभी मे, रहता है। परन्तु वह उनमे स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, समवाय से नही। अत उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी। बचा 'सामान्य' पदार्थ जो नित्य भी है, साथ ही अनेक व्यक्तियो मे समवाय सम्बन्ध रहता है, अतः 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' यह 'सामान्य' पदार्थ का ठीक लक्षण सिद्ध हुआ।

वस्तुतः तो इसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाला लक्षण है—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुभूतो नित्यधर्म. सामान्यम्'। अर्थात् समान अवयव वाली अनेक व्यक्तिवस्तुओ मे जो समान प्रत्यय या बोध का कारण बने, वह सामान्य है। जैसे, अनेक गो-व्यक्तियो मे 'यह गौ है, यह गौ है' इस प्रकार का समान बोध होता है, उसका हेतुभूत धर्म है 'गोत्व'। अतः यह सामान्य हुआ। यह गोत्व क्या है—समस्त गो-व्यक्तियो को अन्य अश्व, महिष इत्यादि व्यक्तियो से अलग करने वाला तन्निष्ठ सास्नादिमत्त्व (गलकम्बल इत्यादि वाला होना) धर्म। इसी से 'सास्नादिमान् गौः' यह 'गौ' का लक्षण हुआ। इस प्रकार 'सामान्य' पदार्थ अनुवृत्ति-प्रत्यय—समान या एकाकार होने का बोध—का हेतु होने के साथ-साथ व्यावृत्ति-प्रत्यय—असमान या भिन्न होने का बोध—का भी हेतु होता है।

सामान्य का अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि आकाश, जो एक ही है अनेक नही, मे रहने वाला तथा अन्य पृथिवी आदि से उसे पृथक् (व्यावृत्त) करने वाला 'आकाशत्व' धर्म सामान्य या जाति नही कहा जा सकता। इसे 'उपाधि' कहा जाता है। इस प्रकार एकवृत्तित्व या एक-समवेतत्व 'सामान्य' का बाधक है। इसके अतिरिक्त अन्य कई जाति-बाधक उदयनाचार्य ने कहे है जो इस प्रकार है :—"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः" ॥—(उदयनाचार्यकृत किरणावली टीका)। न्यायमुक्तावलीकार विश्वनाथ ने अपनी न्यायमुक्तावली के पदार्थ-प्रकरण के अन्तर्गत 'सामान्य' पदार्थ के विवेचन मे उद्धृत किया है।

१—व्यक्ति का अभेद अर्थात् एकत्व होने पर जाति नही होगी, जैसे एक आकाश मे रहने वाला 'आकाशत्व' धर्म-जाति नही, उपाधि है।

२—व्यक्तियो की तुल्यता होने पर भी जाति नही होती। जैसे, घट तथा कलश मे रहने वाली घटत्व और कलशत्व आपाततः पृथक् या भिन्न जातियाँ प्रतीत होती है परन्तु जिन घटो मे 'घटत्व' धर्म रहता है, उन्ही मे कलशत्व भी रहता है। दोनो मे व्यक्ति समान अर्थात् वही हैं। इसलिये दोनो अलग-अलग जातियाँ नही मानी जा सकती।

३—किन्ही दो धर्मों का परस्पर 'सङ्कर' होने पर भी उन्हे 'जाति' नही माना जा सकता। जैसे, पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश मे रहने वाले 'भूतत्व' धर्म तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन मे रहने वाले 'मूर्तत्व' धर्मों को इसलिये 'जाति' नही माना जा सकता; क्योकि 'भूतत्व' चार के अतिरिक्त मन मे तथा 'मूर्तत्व' चार के अतिरिक्त आकाश मे नही पाया जाता।

४—अनवस्था दोष उत्पन्न करने वाले धर्म को भी 'जाति' नही माना जा सकता। जैसे, सत्तात्व या द्रव्यत्वत्व अथवा पृथिवीत्वत्व आदि को जातियाँ मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है, क्योकि उनमे फिर 'त्व' लगाकर सत्तात्वत्व, द्रव्यत्वत्वत्व इत्यादि जातियो की भी कल्पना की जा सकती है एव च इन जातियो की कभी समाप्ति ही नही होगी। अतः जाति मे जाति नही मानी जाती।

५—रूपहानि अर्थात् स्वरूप-विनाश का कारण बनने वाले धर्म की भी 'जाति' रूप से मान्यता नही हो सकती। जैसे, अनन्त विशेष पदार्थो मे 'विशे-

षत्व' जाति मान लेने से उसका 'स्वतोव्यावर्तकत्व' रूप ही नष्ट हो जाता है क्योकि समस्त 'विशेषो' मे कुछ सामान्य या सादृश्य तो मानना ही पडेगा जिसका बोध कराने वाली 'विशेषत्व' जाति होगी। किन्तु ये 'विशेष' पदार्थ तो केवल व्यावर्तक है। जिनमे ये रहते हैं, उनका वैशिष्ट्य प्रकट करते हैं और स्वयं भी एक दूसरे से स्वरूपतः भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति मे 'विशेषत्व' जाति मानने से 'विशेष' पदार्थ के स्वरूप की ही हानि हो जाने के कारण, वह अमान्य है।

६—असम्बन्ध अर्थात् किसी धर्म का अपने व्यक्तियो से सम्बन्ध न बनने पर भी, वह 'जाति' नही माना जाता। जैसे, यदि 'समवाय' पदार्थ मे रहने वाली 'समवायत्व' जाति मानी जाय तो वह समवाय सम्बन्ध से ही 'समवाय' मे रहेगी। किन्तु समवाय मे दूसरा समवाय रहे, यह सम्भव नही। अतः समवायत्व का कोई सम्बन्ध न बनने के कारण, वह 'जाति' नही है।

॥ सामान्य-निरूपण समाप्त ॥

अथ विशेष-प्रकरणम्

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

अर्थ—नित्य द्रव्यो मे रहने वाले उनके भेदक तत्त्वो को 'विशेष' कहते हैं।

विशेष—(i) 'व्यावर्तकत्व' इतना ही लक्षण करने पर, चूंकि घटत्व आदि जातियाँ भी घटादि व्यक्तियो को पट, मठ आदि से समस्त घट-भिन्न व्यक्तियो से व्यावृत्त करती हैं, अत उनमे भी 'विशेष' के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। इस कारण से 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' यह अतिरिक्त पद दे दिया गया। इससे अतिव्याप्ति दूर हो गई, क्योकि 'घटत्व' आदि जातियाँ नित्य द्रव्यो मे नही रहती। किन्तु 'आत्मत्व' एवं 'मनस्त्व' जातियाँ तो नित्य पदार्थों मे ही रहती हैं। अतः इनमे होने वाली लक्षण की अतिव्याप्ति के परिहार के लिये उसमे 'आत्मत्व-मनस्त्वभिन्नाः' इस पद का भी सन्निवेश किया जाना चाहिये।

(ii) पृथिवी, जल, तेज तथा वायु—इन चार स्थूल अर्थात् कार्य भूतो के परमाणु (सूक्ष्मतम अविभाज्य अवयव), और आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन न्याय-वैशेषिक मत से नित्य द्रव्य है। इन्ही नित्य द्रव्यो के परस्पर भेदक तत्त्वो के रूप मे 'विशेष' पदार्थ की कल्पना सर्व-प्रथम वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद ने की थी जिसके कारण उनके दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पडा। आगे चल कर न्यायदर्शन मे भी इसकी मान्यता हो गई, यद्यपि उसमे यह मान्यता एकदेशीय ही रही, सर्वमान्य नही बन पाई।

महर्षि कणाद को 'विशेष' को पृथक् या स्वतन्त्र पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है :—घट, पट इत्यादि अनित्य द्रव्य तो अपने घटकावयवो से ही परस्पर भिन्न या पृथक् हो जाते हैं। किन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यो मे तो अवयव ही नही होते, जिनके कारण उनका पारस्परिक भेद हो सके जबकि भेद तो उनमे होता ही है। अतः इस भेद के कारण-रूप से नित्य द्रव्यो मे रहने वाले 'विशेष' नामक पदार्थ को मानना आवश्यक हो गया। इस प्रकार 'नित्यद्रव्य-व्यावर्तकत्व' ही इस 'विशेष' का स्वरूप कहा जा सकता है।

प्रत्येक नित्य द्रव्य के 'विशेषो' का पृथक्-पृथक् होना आवश्यक है, क्योकि "गौरय, गौरयम्" की तरह ही यदि 'विशेषोऽय, विशेषोऽयम्' मे भी समानता या एकाकारता का प्रत्यय अथवा बोध मानेंगे तो 'विशेष' के 'व्यावर्तकत्व'[1] स्वरूप की हानि हो जायगी। इसीलिये 'स्वरूप-हानि' को पीछे जाति-बाधको मे गिनाया गया है। यदि ये भी समान होते तो इनमे भी अनेक गोव्यक्तियो मे गोत्व की तरह ही, 'विशेषत्व' जाति होती। असख्य नित्य द्रव्यो मे रहने वाले ये 'विशेष', पृथक्-पृथक् होने से ही असख्य (अनन्त) माने जाते है। इनमे परस्पर किसी प्रकार का भी साम्य नही है, ये स्वरूपतः ही एक-दूसरे से पृथक् है। इस प्रकार "स्वतो-व्यावर्तकत्व विशेषत्वम्" ऐसा 'विशेष' पदार्थ का लक्षण बनता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणु ही अन्तिम द्रव्य है जिनसे पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नामक स्थूल भूत (महाभूत) बनते है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—ये पाँच सूक्ष्मतम द्रव्य तो परमाणु-हीन तथा नित्य होने से कार्य है ही नही। प्रलय-काल मे जब पृथिवी, जल इत्यादि चारो कार्य द्रव्य क्रमशः नष्ट होते-होते अन्तत परमाणु-अवस्था को प्राप्त हो जाते है और उनके कार्यावस्था के रूप, रस, परिमाण आदि गुण व्यावर्तक नही रह जाते, तब ये 'विशेष' ही उनके व्यावर्तक होते है। इस प्रकार अन्त मे होने से ये 'अन्त्य'—'अन्ते भवाः'—कहे जाते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति मे 'अन्त्यत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तित्वं विशेषत्वम्' ऐसा भी लक्षण 'विशेष' पदार्थ का बनता है। किन्तु विशेष रूप से स्वरूपोद्घाटक होने के कारण पूर्वोक्त 'स्वतोव्यावर्तकत्व विशेषत्वम्' ही इस का प्रमुख लक्षण सिद्ध होता है।

॥ विशेष-निरूपण समाप्त ॥

---

१. 'व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः'।—तर्कभाषा, पृ० २४८

अथ समवाय-प्रकरणम्

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। यतोर्द्वयोर्मध्ये एकम-विनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ। यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

अर्थ—नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। वह अयुत-सिद्ध पदार्थों में रहता है। जिन दो पदार्थों मे से एक नष्ट न होने तक दूसरे के आश्रित रहता है, वे दोनो 'अयुतसिद्ध' कहे जाते है। जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्यद्रव्य।

विशेष—(1) यदि 'समवाय' का लक्षण केवल 'नित्यः' किया जाय तो आकाशादि के भी नित्य होने से लक्षण की उनमे अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके परिहारार्थ 'सम्बन्ध' पद भी लक्षण मे दिया गया है। केवल 'सम्बन्धः' ऐसा लक्षण करने पर सयोग सम्बन्ध मे उसकी अतिव्याप्ति होगी। अतः इसके परिहारार्थ लक्षण मे 'नित्य' पद भी दिया गया है। तथापि स्वरूप सम्बन्ध मे अति-व्याप्ति होगी ही क्योकि वह भी नित्य सम्बन्ध है। अतः इसके परिहारार्थ लक्षण मे 'स्वरूपसम्बन्धभिन्नत्वम्' पद को भी देना चाहिये। एव 'स्वरूपसम्बन्धभिन्नत्वे सति नित्यसम्बन्धत्व समवायत्वम्'—यह समवाय का परिष्कृत लक्षण होगा।

(ii) वस्तुतः 'समवाय' भी सयोग नामक सम्बन्ध की तरह ही एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध ही है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ सयोग अनित्य होता है, वहाँ समवाय नित्य होता है। फिर 'सयोग' की तरह ही सम्बन्ध होने के कारण इसे भी 'गुण' पदार्थ के अन्तर्गत न रख कर एक स्वतन्त्र (पृथक्) पदार्थ क्यो माना गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन मे समवाय की विशेष महत्ता के कारण ही इसे सामान्य 'सयोग' नामक 'गुण' पदार्थ से अलग एक स्वतन्त्र पदार्थ मान लिया गया है। इसकी इस महत्ता का आभास 'विशेष' पदार्थ की पूर्व-कृत व्याख्या के अन्तिम भाग से हो जाता है। वहाँ कहा गया है कि नित्य सूक्ष्मतम परमाणुओ से ही क्रमशः अनित्य स्थूल-तम पृथिवी, जल, तेज तथा वायु नामक कार्यद्रव्यो की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति मे समवाय की अपेक्षा होती है। बिना समवाय के सूक्ष्म से स्थूल की सृष्टि हो ही नही सकती। दो परमाणुओ मे समवेत (समवाय सम्बन्ध से युक्त) होकर ही एक 'द्व्यणुक', तीन द्व्यणुको मे समवेत होकर एक स्थूल 'त्र्यणुक' (या त्रसरेणु), चार 'त्र्यणुको' मे समवेत होकर एक अधिक स्थूल 'चतुरणुक' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से अन्ततः महास्थूल पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु

की सृष्टि होती है। जब तक द्वयणुकादि कार्य रहेगे तब तक वे अपने घटकावयवो—परमाणु आदि—मे समवेत होकर ही, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से ही, रहेगे। इस प्रकार समवायी और सम्वेत के बीच का समवाय सम्बन्ध समवेत कार्य द्रव्य के सत्ता-काल तक नित्य रहेगा। इसी से यह नित्य सम्बन्ध है और इसी से मूल मे 'नित्यसम्बन्ध समवाय.' ऐसा इसका लक्षण किया गया है।

मूल मे इसे 'अयुतसिद्धवृत्ति.' कहा गया है जिसका विग्रह है—'अयुतसिद्धयो. वृत्तिर्यस्य स:' अर्थात् दो अयुतसिद्ध वस्तुओं मे रहने वाला। इसकी इसी विशेषता—असाधारण धर्म—को लेकर, इसका 'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः' ऐसा भी लक्षण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि दो अयुतसिद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। यह 'अयुतसिद्ध' क्या है? 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से अमिश्रण अर्थात् 'पृथक्' अर्थ मे बने 'युत' शब्द से 'अपृथग्भूत' अर्थ मे 'अयुतौ' 'न युतौ' शब्द बनता है। फिर 'अयुतावेव सिद्धौ' इस अर्थ मे 'अयुतसिद्धौ' समास बना। इसका अर्थ है—जो पृथक्-पृथक् सिद्ध न हों, अलग-अलग न रह सके, जैसे तन्तु (धागे) और उनसे बना वस्त्र-खण्ड। 'तयोः सम्बन्धः समवायः' अर्थात् ऐसा ही दो वस्तुओ के बीच का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। यह इस लक्षण का तात्पर्य है। इस सब तथ्य को स्पष्ट करने वाली एक कारिका सुप्रसिद्ध है जो इस प्रकार है—'तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः। अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥' इसमे आया हुआ 'अनश्यत्' शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'नष्ट न होती हुई' अर्थात् अपने नाश की प्रक्रिया प्रारब्ध होने के पूर्व सत् वस्तु। यह अपने जिस उपादान पर आश्रित होकर रहती है, वही उसका समवायिकारण होता है, जैसे वस्त्र का समवायिकारण तन्तु। यह वस्त्र जब तक रहेगा, अपने उपादान-भूत तन्तुओ मे ही समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से रहेगा, उनसे पृथक् नही। पृथक् तो विनाश-काल मे ही होगा। यही 'अनश्यत्' कहने का तात्पर्य है।

॥ समवाय-निरूपण समाप्त ॥

अथ अभाव-प्रकरणम्

अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।

अर्थ—जिसका आदि अर्थात् आरम्भ नही है किन्तु अन्त है, ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। यह कार्य का (अपने कारण मे) अपनी उत्पत्ति के पहले का अभाव है।

विशेष—(i) ग्रन्थकार ने 'अभाव' का कोई लक्षण नही दिया, जबकि 'द्रव्य' से लेकर 'समवाय' तक छहो पदार्थों का लक्षण दिया है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने भी ऐसा ही किया है। उन्होने अभाव के 'संसर्गाभाव' तथा 'अन्योऽन्याभाव' नामक दो भेद एव ससर्गाभाव के 'प्रागभाव', 'प्रध्वसाभाव' तथा 'अत्यन्ताभाव' नामक तीन भेद देते हुये 'अभाव' के विवेचन का प्रारम्भ किया है। लगता है, 'अभाव' के सर्वजनसवेद्य होने के कारण, अभाव के सभी जनो के बोध या अनुभव का विषय होने के कारण ही, उसका लक्षण इन आचार्यों ने नही किया। अज्ञात का लक्षण किया जाता है, ज्ञात वस्तु का क्या लक्षण। प्रागभाव आदि उसके भेद पारिभाषिक एवं अज्ञात होने से लक्षण की अपेक्षा रखते थे, अत: उनके लक्षण दिये गये। 'भूतल पर घट का अभाव है', 'वायु मे रूप का अभाव है', 'घर मे अन्नादि का अभाव है', इत्यादि प्रतिदिन के अनुभव हैं। ये अनुभव सर्व-सामान्य जनो के हैं। इस प्रकार निषेधमुख से सभी को अनुभूत या ज्ञात होने के कारण 'अभाव' पदार्थ का लक्षण इन आचार्यों ने नही दिया। तथापि तर्कभाषाकार ने इस तथ्य का सकेत अभाव के प्रकार एव उनके लक्षण देने से पूर्व ही इस प्रकार दिया है—'इदानी निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूप: सप्तम. पदार्थ प्रतिपाद्यते' (तर्कभाषा, पृ० २५०)। न्यायमुक्तावलीकार विश्वनाथ का 'अभात्व द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्' लक्षण भी इससे अधिक कुछ नही प्रकट करता है। हाँ, इसे लक्षण का पारिभाषिक रूप देकर थोडा कठिन अवश्य बना दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि द्रव्यादि छ: भाव पदार्थों के अन्योन्याभाव (भेद) वाले अर्थात् द्रव्यादि छ. भावपदार्थों से भिन्न पदार्थ को 'अभाव' कहते हैं। बात तो वही हुई, केवल 'अन्योन्याभाव' पद को लक्षण मे डालकर उसे दुरवबोध बना दिया। 'अभाव' को अन्योन्याभाव के द्वारा समझाना कहाँ तक न्याय एव उचित है? जो अभी 'अभाव' ही नही जानता, वह भला अन्योन्याभाव क्या जानेगा?

(ii) केवल 'सादि:' इतना ही लक्षण करने पर घटादि वस्तुओ मे अतिव्याप्ति होती, अत: उसमे 'अनादि:' पद भी दिया गया। घट सान्त अनित्य तो है किन्तु अनादि नही है, अत: 'अनादि:' पद देने से घट मे उसकी अतिव्याप्ति दूर हो गई। केवल 'अनादि' लक्षण करने पर अनादि परमाणु आदि मे उसकी अतिव्याप्ति होती, अत: उसे दूर करने के लिये 'सान्त:' पद भी दिया गया। परमाणु नित्य है, 'सान्त' अर्थात् अनित्य नही हैं। अत: 'सान्त:' पद देने से परमाणु आदि म होने वाली लक्षण की अतिव्याप्ति दूर हो गई।

यह प्रागभाव कार्य का अपने समवायिकारण मे होता है, एव उत्पत्ति के पूर्व होता है[1]। कार्य का यह अभाव अपने समवायिकारण मे तभी तक रहता है जब तक कार्य उत्पन्न नही हो जाता। कार्य के उत्पन्न होते ही, उससे उसका प्रागभाव नष्ट हो जाता है, कार्य उसका प्रतियोगी (विरोधी) जो ठहरा इसलिये।[2] दो कपालो मे वर्तमान घटाभाव उनमे घट की उत्पत्ति होते ही समाप्त हो जाता है। कपालस्थ यह घटाभाव कब से अर्थात् कितने समय से है, इसका उत्तर यही है कि अनादिकाल से। इसी से प्रागभाव 'अनादि: सान्त:' होता है।

सादिरनन्त: प्रध्वसाभाव:। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।

अर्थ—जिसका आदि है परन्तु अन्त नही है, ऐसे अभाव को 'प्रध्वसाभाव' कहते है। यह कार्य का अपनी उत्पत्ति के परवर्ती काल मे होने वाला अभाव है।

विशेष—'सादि:' इतना ही लक्षण करने पर उत्पन्न होने वाले घटादि मे उसकी अतिव्याप्ति होती। इसलिए 'अनन्त:' पद भी लक्षण मे दिया गया। इससे अतिव्याप्ति दूर हो गई, क्योकि उत्पन्न होने वाले सारे ही भाव-पदार्थ सान्त अर्थात् नश्वर होते है, अनन्त नही। 'अनन्त.' इतना ही लक्षण करने पर अनन्त नित्य' आत्मादि पदार्थों मे उसकी अतिव्याप्ति होती। इसलिये उसके साथ 'सादि:' पद भी दिया गया ताकि नित्य भावपदार्थों मे उसकी अतिव्याप्ति दूर हा जाय। नित्यभाव पदार्थ 'सादि' नही, अनादि होते हैं।

'प्रध्वस' नाम से ही स्पष्ट है कि यह अभाव कार्य वस्तु के विनाश से उत्पन्न होता है। जैसे, उत्पन्न घट जब मुद्‌गर इत्यादि से प्रहार करने पर नष्ट हो जाता है, तब उस नाश—प्रध्वस—से घट का अभाव हो जाता है। घट का यह अभाव उसकी उत्पत्ति के बाद ही किसी काल-विशेष मे होन से 'सादि' है; और चूंकि यही घट (कपालो के नष्ट हो जाने से) फिर कभी उत्पन्न नही किया जा सकता, अत: उसका अभाव, सदैव बना रहने से, अनन्त अर्थात् नित्य है। इस प्रकार प्रध्वसाभाव सादि किन्तु अनन्त होता है। यह सब तथ्य तर्क-भाषाकार-कृत लक्षण मे एव उसके विवेचन मे सक्षेप से आ गया है। वह इस प्रकार है :—'उत्पन्नस्य कारणेऽभाव. प्रध्वसाभाव:। प्रध्वसो विनाश इति

---

१. 'उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः'।—तर्क०, पृ० २५१

२. 'स चानादिरुत्पत्तेरभावात्, विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्'।—तर्क०, पृ० २५१

अत: इस का यह लक्षण सर्वथा अनवद्य है।

यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालाया घटाभावः । स च मुद्गरप्रहारादिजन्य. । स चोत्पत्तिमानपि अविनाशी, नष्टस्य कार्यस्य पुनरुत्पत्तेः' (पृ० २५१) ।

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽत्यन्ताभावः । यथा, भूतले घटो नास्तीति ।

अर्थ—त्रैकालिक अर्थात् नित्य ससर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते है । [अर्थात् जिसके प्रतियोगी का किसी भी काल मे ससर्ग-सम्बन्ध होता ही नही, उसका नाम 'अन्यन्ताभाव' है ।] जैसे, भूतल मे घडा नही है' इसमे कथित भूतलवर्ती घटाभाव अत्यन्ताभाव है ।

विशेष—(1) तर्कसंग्रहकार का अत्यन्ताभाव का उपर्युक्त लक्षण उसी दोष से दूषित है जिससे न्यायमुक्तावलीकार का 'अभाव' का लक्षण दूषित दिखाया जा चुका है । 'अवच्छिन्न' एव 'प्रतियोगिता' पदो के प्रयोग से लक्षण न्यायप्रविविक्षुओ के लिये दुरूह हो गया है । इससे तो सरल न्यायमुक्तावलीकार-कृत 'नित्यसमर्गाभावत्वमत्यन्ताभावत्वम्' एव तर्कभाषाकार-कृत 'त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावो यथा वायौ रूपाभावः' लक्षण है । जो अभाव तीनो काल मे रहे, वह अत्यन्ताभाव है । जैसे, वायु मे रूप का त्रैकालिक अभाव रहने से, उसे अत्यन्ताभाव कहते है । तर्कभाषाकार का अत्यन्ताभाव का उदाहरण भी तर्क-संग्रहकार के उदाहरण से सरल और सुबोध है । वायु मे रूपाभाव के कारण ही उसका कभी भी प्रत्यक्ष नही होता, यह समझ लेना सभी के लिये सरल है । किन्तु तर्कसग्रहकार द्वारा कथित 'भूतलवर्त्ती घटाभाव' उदाहरण सामान्यतः समझ के बाहर है । न्याय-वैशेषिक की यह मान्यता जरूर है कि यह अभाव त्रैकालिक अर्थात् नित्य है, परन्तु 'क्यो और कैसे' इसको समझने के लिये दुरूह कल्पना करनी पडती है । 'वायु मे रूपाभाव' उदाहरण देने से तर्कसंग्रहकार का कठिन लक्षण भी कुछ बोध-गम्य हो जाता । रूपाभाव का प्रतियोगी रूप, उसका वायु मे भूत, भविष्य या वर्तमान, किसी भी काल मे ससर्ग या सम्बन्ध नही होता । इसलिये रूपाभाव 'अत्यन्ताभाव' है ।

(11) 'ससर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकः' इतना ही लक्षण करने पर प्रागभाव एवं प्रध्वसाभाव मे अतिव्याप्ति होती, अत. उसमे 'त्रैकालिक' यह अतिरिक्त पद दिया गया । ऐसा करने से अतिव्याप्ति का परिहार हो जाता है, क्योकि इन दोनो की प्रतियोगिता त्रैकालिकससर्गावच्छिन्न नही है । 'ससर्ग' पद से यहाँ 'अन्योन्याभाव' के तादात्म्य-ससर्ग से भिन्न ससर्ग गृहीत है । इससे इस पद के लक्षण मे दे देने से 'अन्योन्याभाव' मे उसकी अतिव्याप्ति नही होती ।

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति।

अर्थ—तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न या युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। जैसे, घट पट नही है [अर्थात् पट-स्वरूप नही है]।

विशेष—'घट पट नही' इसका यह अर्थ हुआ कि घट पट-स्वरूप नही है। अर्थात् घट का तादात्म्य पट मे नही, घट मे ही है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि पट मे घट का अभाव है। यही घट-निष्ठ पटाभाव 'अन्योन्याभाव' है। चूंकि पटाभाव का प्रतियोगी पट है, अतः इस घटनिष्ठ पटाभाव रूप अन्योन्याभाव को 'पटप्रतियोगिक अभाव' भी कह सकते हैं।

अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध 'तादात्म्य' सम्बन्ध ही होता है। इसलिये लक्षण मे 'तादात्म्य' पद दे देने से प्रागभाव तथा प्रध्वसाभाव मे इसकी अतिव्याप्ति नही हुई।

॥ अभाव-निरूपण समाप्त ॥

ग्रन्थोपसंहारः

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

अर्थ—सभी (गौतममुनि-प्रोक्त षोडश) पदार्थों का उक्त सात पदार्थों मे ही यथायोग्य अन्तर्भाव हो जाने से 'सात ही पदार्थ हैं' यह सिद्ध है।

विशेष—ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि तर्कसंग्रहकार ने पदार्थों का विभाजन-निरूपण इत्यादि वैशेषिकदर्शनानुसार किया है। ग्रन्थकार का प्रस्तुत ग्रन्थोपसहार तदनुसारी ही है। इसमे निष्कर्ष रूप से सात पदार्थों की ही प्रतिष्ठापना है। उनका कथन सावधारण (निश्चयात्मक) है। 'सप्तैव' अर्थात् सात ही पदार्थ हैं, अधिक नही। तात्पर्य यह कि इन्ही सात मे महर्षि गौतम के न्यायसूत्र मे कथित 'प्रमाण-प्रमेय-सशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रह-स्थान'—ये सोलह पदार्थ अन्तर्भूत या संग्रहीत समझे जाने चाहिये।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसङ्ग्रहः॥

॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायान्नम्भट्टविरचितस्तर्कसङ्ग्रहः समाप्तः ॥

अर्थ—महर्षि कणाद-प्रोक्त (वैशेषिक) मत एव (महर्षिगौतमप्रोक्त) 'न्याय' मतो मे बालको की व्युत्पत्ति की सिद्धि के लिये विद्वान् अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसङ्ग्रह' की रचना की। ॥ तर्कसङ्ग्रह-समाप्त ॥